ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष 55 अंक 2

अप्रैल-जून-2009

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

ISSN 0974 - 8849

दार्शनिक-त्रैमासिक

वर्ष 55 अंक 2 अप्रैल-जून - 2009

ISSN 0974 - 8849
दार्शनिक-त्रैमासिक
वर्ष 55 अंक 2
अप्रैल–जून – 2009

प्रतियाँ : 300

मूल्य : रु. 100/–

प्रकाशक :
प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा
महामंत्री-अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्
आचार्य, दर्शन विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

वितरक :
श्री राजेश केशरवानी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
247, जवाहरगंज, सागर (म.प्र.) 470002
मो. 9303282494, 9302376704
www.vishwavidyalayaprakashansagar.blogspot.com

अनुक्रम

सम्पादकीय

दार्शनिक त्रैमासिक का (वर्ष 55, अंक–2 अप्रैल–जून 2009) यह अंक आप सबों को सौंपते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। प्रसन्नता की बात यह है कि आज यह पत्रिका परिषद् के बेबसाइट पर ISSN 0974-8849 के साथ उपलब्ध है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के तत्वावधान में राष्ट्र–भाषा हिन्दी के माध्यम से हो रहे दार्शनिक चिन्तन के प्रचार–प्रसार और प्रमाणीकरण की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। ज्ञान का प्रसार क्षेत्र जैसे–जैसे विस्तृत होता है, उसी अनुपात में उसकी प्रामाणिकता और दृष्टि की व्यापकता भी बढ़नी चाहिए। दार्शनिक त्रैमासिक के पिछले कुछ अंको को प्रकाशित करते हुए हम लोगों ने इस बिन्दु पर विषेश ध्यान दिया है और न्यूनाधिक रूप से सफलता भी मिली है। यद्यपि पत्रिका की गुणवत्ता और उसके द्वारा निर्मित होने वाले वैचारिक पर्यावरण की श्रेष्ठता के कई सोपानों को पार करना अभी बाकी है तथापि यह आशा की जा सकती है कि परिषद् के सदस्यों और लेखकों के सहयोग से उन सोपानों को निकट भविष्य में ही हम लोग पारकर सकेंगे। दार्शनिक चिन्तन के सम्यक् विकास हेतु परिषद् अपने आरंभिक काल से ही परम्परा के प्रति निष्ठावान और आधुनिक नवोन्मेष का आकांक्षी रहा है। परिषद् की यह मनोवृत्ति पत्रिका के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से परिलक्षित नहीं हो सकती। दार्शनिक त्रैमासिक के प्रत्येक अंक की प्रकाश्य सामग्रियों का चयन करते हुए हम इस बात का ध्यान रखते हैं। इस अंक में भी भारतीय भाषा–दर्शन, विज्ञान और धर्म,

गांधी–दर्शन तथा दर्शन की कुछ अधुनातन प्रवृत्तियों से संबंधित आलेख निबद्ध किए गए हैं। इस अंक के सम्पादन के दौरान कुछ युवा लेखकों की वैचारिक निष्ठा और दार्शनिक उत्साह को देखकर मन को बड़ा संतोष हुआ। इस सन्दर्भ में डा. सरोज कुमार वर्मा, सुधांशु शेखर, गोपीकृष्ण और लाला पंचानन के आलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अधुनातन दार्शनिक प्रवृत्तियों एवं विकासमान–ज्ञान की नवीन विधाओं पर हिन्दी माध्यम से आज प्रचुर लेखन की आवश्यकता और अवकाश भी है। दर्शन की वर्तमान पीढ़ी इसके प्रति जागरूक भी दिखाई दे रही है, लेकिन उनके लेखन में इन्टरनेट पर उपलब्ध महत्त्वपूर्ण सामग्रियों का रचनात्मक उपयोग अपेक्षाकृत कम देखा जा रहा है। हम आशा करते हैं कि हमसे जुड़े युवा लेखक इस कमी को पूरा करेगें और राष्ट्र–भाषा 'हिन्दी' के माध्यम से दार्शनिक साहित्य को समृद्ध करने में अपना उल्लेखनीय योगदान प्रस्तुत करेगें।

– एस.पी. दुबे

शाब्दबोध प्रक्रिया में योग्यताज्ञान

डॉ. बलिराम शुक्ल

जो बोध शब्द से उत्पन्न होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। शाब्दबोध के लिए पदज्ञान करण (असाधारण कारण) तथा पद से होने वाली पदार्थ की उपस्थिति व्यापार (द्वारा) तथा शाब्दबोध शब्द प्रमाण का फल है। महर्षि गौतम ने आप्तोपदेश को चार प्रमाणों के अन्तर्गत शब्द प्रमाण के रूप में परिभाषित किया है। महर्षि वात्स्यायन ने आप्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि "यथा द्रष्टस्यार्थस्य चिरव्याप विषया प्रयुक्तः आप्तः" ।[1] स्वयं दृष्ट अर्थ की बोध कराने की इच्छा से प्रयुक्त व्यक्ति आप्त है। यह आप्त का लक्षण ऋषि, म्लेच्छ, आर्य आदि सभी में घटित होता है।

नव्य–नैयायिकों के अनुसार आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, आकांक्षाज्ञान तथा तात्पर्यज्ञान भी शाब्दबोध में कारण होते हैं। इन सभी का यथोचित विवेचन नव्यनैयायिकों ने यथास्थान किया है। यहां हमारे विवेचन का विषय योग्यताज्ञान है, जिसके विषय में विद्वानों में प्रचण्ड विवाद है। सभी शाब्दी–प्रमा के व्याख्याकार योग्यताज्ञान को शाब्दबोध की अनिवार्य शर्त नहीं मानते।

नैयायिकों के अनुसार 'पदार्थे तत्र तद्वत्ता' योग्यता है। अर्थात् "एकपदार्थ निष्ठापरपदार्थात्यन्ताभावा प्रतियोगित्व" योग्यता है। यही कारण है कि योग्यता ज्ञान रहने से ही "जल से सींचता है" इस वाक्य से बोध होता है और आग से सींचता है इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है। आग में सिंचन की क्षमता (सेचनकरणत्व) का अभाव होने से उसका प्रतियोगित्व है, अप्रतियोगित्व नहीं है। फलस्वरूप योग्यता का अभाव है। अतः उपर्युक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है जबकि "पयसा सिंचति"– जल से सींचता है, इस वाक्य से बोध होता है क्योंकि जल में सेचन की करणता विद्यमान होने से उसका अभाव नहीं है अतः वहां होने वाले अभाव का प्रतियोगी सेचनकरणत्व नहीं है। अतः उक्त वाक्य शाब्दबोध के योग्य है।

परन्तु इस विषय में अन्य शास्त्रकारों ने अनेक आपत्तियां उठाई हैं। उनका विचार आवश्यक है। इस विषय में दूसरे शास्त्रकारों की पहली आपत्ति यह है कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध यह शाब्दज्ञान के बाद ज्ञान होता है, शाब्दबोध के पूर्व में नहीं। एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान ही

शाब्दबोध या अन्वय–बोध कहलाता है। यह सम्बन्ध योग्यता के रूप में ही शाब्दबोध के पूर्व में ज्ञात हो जायेगा तो उसके बाद अन्वयबोध रूप शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होगा। उदाहरण के लिए हम इस वाक्य को ले ''डॉ. मनमोहन सिंह भारत के प्रधान मंत्री हैं'' इस वाक्य को सुनने पर हमको इस वाक्य के प्रत्येक पदार्थ की उपस्थिति होती है। अलग–अलग पदों से हमें उनके अर्थ ज्ञात होते हैं। शाब्दबोध होने पर हमें डॉ. मनमोहन सिंह, भारत और प्रधानमंत्री इन पदार्थों का सम्बंध ज्ञात होता है। वह प्रत्येक पदार्थ के बोध से बिल्कुल भिन्न बोध होता है। उसमें हमें प्रत्येक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है। वह बोध पदार्थ–बोध से भिन्न प्रकार का है, उसमें हमें पूर्वज्ञात वस्तु से भिन्न संबन्ध रूप नवीन वस्तु का नवीन ज्ञान होता है, वही शाब्दबोध है। यदि पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान योग्यता–ज्ञान के रूप में हो जाय तो शाब्दबोध के अवसर पर किस नवीन वस्तु का बोध होगा। और ज्ञात वस्तु का ही बोध होने पर उसके करण को प्रमाण नहीं कहा जा सकेगा। इसीलिए शाब्दबोध का लक्षण करते हुए आचार्य जगदीश ने कहा है–

साकांक्ष शब्दैर्योबोधः तदर्थान्वयगोचरः
..............................न प्रत्यक्षं न चा नुमा।

ऐसी स्थिति योग्यता ज्ञान रूप पदार्थ–संसर्ग ज्ञान उसी स्वरूप के शाब्दज्ञान में कारण मानने पर स्व को ही स्व–कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार से आत्माश्रय दोष होगा।

दूसरी आपत्ति विरोधियों ने, विशेष रूप से वैयाकरणों ने, उठाई है। उनका कथन है कि बाधाभाव रूप योग्यताज्ञान के न रहने पर भी शाब्दबोध होता है। एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध के बाधित होने पर भी शब्द से बोध होता है। जैसा कि *खण्डनखण्डखाद्य–कार* ने कहा है ''अत्यंता सदर्थेपिज्ञानं शब्दः करोत्येव'' अत्यन्त असद् अर्थ होने पर भी शब्द ज्ञान को उत्पन्न करता ही है। शशविषाण, आकाशकुसुम आदि शब्दों से बोध होता ही है। कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ''वह्निना सिंचति'' शब्द सुनने पर कोई भी बोध नहीं होता है। यदि कोई भी बोध न हो तो इस वाक्य के प्रयोगकर्त्ता पर क्यों लोग हंसते हैं, उसे क्यों मूर्ख समझते हैं ? इसका मतलब यह है कि विरोधी ज्ञान होने पर भी शाब्दबोध होता है। इसलिए अनुमिति के समान बाधज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं है। अतः बाधा भाव रूप योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध का कारण नहीं है।

इस प्रकार ''एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृत शेखरः तथा अंगुल्यग्रे गजानां शतम्'' इत्यादि वाक्यों से शाब्दबोध होता ही है, यह बात दूसरी है कि यह शाब्दबोध यथार्थ है या अयथार्थ। यह शाब्दबोध यथार्थ नहीं है। परन्तु वह शाब्दबोध ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।

इसी प्रकार बाधक प्रमा विरह रूप भी योग्यता शाब्दबोध का कारण नहीं है। शशविषाण और खपुष्प के वक्ता की श्रोताओं द्वारा हंसी उड़ाई जाती है। यदि इस वाक्य से किसी प्रकार का बोध ही न हो तो हंसी क्यों उड़ायी जाय? इसीलिए *परम लघुमंजूषा कार* का कथन है कि बौद्धार्थ ही सर्वत्र बोध का विषय होने उसका बाध नहीं होता है। "अग्निना सिंचति" इस वाक्य के प्रयोगकर्त्ता व्यक्ति का उपहास होता है। यदि इस वाक्य से बोध न हो तो वह उपहास नहीं होना चाहिये। अग्नि से कैसे सिंचाई हो सकती है? वाक्यार्थ बोध होने पर भी बौद्धार्थ विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके विषय में अप्रामाण्य–ग्रह रहता है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार बौद्धार्थ ही शाब्दबोध का विषय होता है। इसलिए अलीक पदार्थ का भी बौद्धार्थ के रूप में शाब्दबोध में भान होता है। वैयाकरणों को उसमें कोई आपत्ति नहीं है।

उसी प्रकार शंख पीत नहीं है यह ज्ञान होने पर भी पित्तदोष से शंखपीत है यह बुद्धि होती है। उसी प्रकार बाध–ज्ञान रहने पर भी शाब्दबुद्धि होती है। बाध ज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं है। बाधज्ञान होने पर भी इतर सामग्री रहने पर शाब्दबोध होता ही है। परन्तु यह ज्ञान अप्रमा कहलाता है क्योंकि वह विसंवादिनी प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जो ज्ञान दोष से उत्पन्न होता है वह प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान से नष्ट नहीं होता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि यदि योग्यताज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानेंगे तो वाद–विवाद के प्रसंग में वादी वाक्य से प्रतिवादी को शाब्दबोध ही नहीं होगा क्योंकि प्रतिवादी को वादी के वाक्य में अयोग्यता का निश्चय है और अयोग्यता का निश्चय प्रतिबन्धक होता है। ऐसी स्थिति में वादी के वाक्य से बोध न होने पर उसका उत्तर देने की प्रवृत्ति ही प्रतिवादी को नहीं होगी। उदाहरण के लिए मीमांसक कहता है "शब्दनित्य है"। नैयायिक को यह निश्चय है कि "शब्द अनित्य है"। अतः नैयायिक को बाधज्ञान होने से वादी के वाक्य से शाब्दबोध ही नहीं होना चाहिये। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रतिवादी को शाब्दबोध होता है इसीलिए वह उसका निषेध करता है। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां बाधज्ञान है वहां भी शाब्दबोध होता ही है। और बाधाभावोयोग्यता इस लक्षण के अनुसार वहां योग्यता नहीं है।

इसी प्रकार योग्यताज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानने पर गाली सुनने पर भी श्रोता को क्रोध नहीं आना चाहिये। परन्तु यदि कोई किसी को गधा या बैल कहता है तो सुनने वाले उस व्यक्ति को जिसे गधा कहा गया है क्रोध उत्पन्न होता है जबकि सुनने वाला व्यक्ति यह जानता है कि वह गधा या बैल नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्य में गधापन या बैलपन (वृषभत्व) बाधित होने से बाधाभाव नहीं है। अतः योग्यता ज्ञान न होने से उसे "तुम गधे हो" इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होना चाहिये। परन्तु यह सार्वजनीन अनुभव है कि उपर्युक्त वाक्य सुनकर श्रोता को बोध

होकर तादृश बोध–मूलक प्रवृत्ति होती है। गाली सुनकर दुःख का अनुभव होता है। वह नहीं होना चाहिये क्योंकि वहां योग्यता ज्ञान रूप शाब्द सामग्री न होने से नैयायिक के अनुसार शाब्दबोध ही नहीं है।

विरोधियों का यह भी आक्षेप है कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण माना जाता है। तात्पर्य ज्ञान से ही योग्यताज्ञान का निर्वाह हो जाता है; तात्पर्य ज्ञान को स्वतन्त्र कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे ''सैन्धवमानय'' इस वाक्य से भोजन प्रसंग से सैन्धव (लवण) में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होने से और उसका बाध न होने पर योग्यता ज्ञान के न होने पर भी तात्पर्य ज्ञान के द्वारा ही अबाधित रूप से सैन्धव लवण की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है। अतः योग्यताज्ञान को स्वतन्त्र कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

यहां नव्य नैयायिकों का कथन है कि योग्यता का ज्ञान मात्र शाब्दबोध का कारण नहीं है अपितु योग्यता के अभाव का निश्चय शाब्दबोध में विरोधी है। ''अग्निना सिंचति'' इस वाक्य से शाब्दबोध इसलिए नहीं होता है कि श्रोता को अग्नि में सिंचन की कारणता के अभाव का निश्चय है जो कि उस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध को रोकता है। यहां यह एक सामान्य नियम है कि लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने वाले तथा दोष–विशेष से उत्पन्न न होने वाले पदार्थ के ज्ञान को उसके अभाव का ज्ञान विरोधी होता है। इसी सामान्य नियम के आधार पर ''अग्निना सिंचति'' इस वाक्य से न होने वाले शाब्दबोध की व्यवस्था लगाई जा सकती है। उसके लिए योग्यता ज्ञान को कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस नियम के अतिरिक्त योग्यता ज्ञान को भी अलग कारण मानने में गौरव है।

इन सारे आक्षेपों का उत्तर – विरोधियों का पहला आक्षेप जो यह है कि शाब्दबोध अपूर्व होने से उसके लिए ''पदार्थे तत्र तद्वत्ता'' रूप योग्यता का ज्ञान कारण नहीं हो सकता। इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि योग्यताज्ञान सर्वदा निश्चय रूप में होना चाहिये। योग्यता के संशय होने पर भी शाब्दबोध होता है। योग्यता ज्ञान कहीं निश्चय के रूप में तो कहीं संशय रूप में शाब्दबोध का कारण होता है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष योग्यता ज्ञान से भी शाब्दबोध होता है। जैसे ''यह घट है'' इस वाक्य से शाब्दबोध होता है। यहां घट में अस्तित्व का प्रत्यक्ष होने पर भी 'घटोऽस्ति' इस वाक्य से शाब्दबोध होता है। यहां पर कोई भी शक्ति शाब्दबोध को रोक नहीं सकती। यदि योग्यताज्ञान प्रत्यक्ष रूप है तो शाब्दबोध होने में कोई बाधा नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञात वस्तु का भी शाब्दबोध से भान होता है यह सार्वजनीन अनुभव है।

यहां यह कथन उचित नहीं होगा कि योग्यता ज्ञान संशय रूप में होने पर शाब्दबोध भी संशयात्मक होता है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी वस्तु विशेष के अभाव के शाब्दबोध की सामग्री उस वस्तु–विशेष के शाब्दबोध में

प्रतिबन्धक होती है। उसी प्रकार वस्तुविशेष के शाब्दबोध की सामग्री उसी वस्तु विशेष के अभाव के शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होती है। इस प्रकार से परस्पर प्रतिबन्ध्य–प्रतिबन्धक भाव सर्वजन प्रसिद्ध है। यदि *रत्नकोषकार* के अनुसार संशयात्मक अनुमिति स्वीकार की जा सकती हो तो संशयात्मक शाब्दबोध स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। परन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। जगदीश ने स्वयं कहा है कि योग्यता का संशय होने पर भी शाब्दबोध होता है ऐसा अनुभव है। तात्पर्य यह है कि सर्वदा योग्यताज्ञान और शाब्दबोध एक ही रूप में नहीं होते हैं। अतः योग्यताज्ञान और शाब्दबोध एक ही नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि "पदार्थे तत्र तद्वत्ता" यह योग्यता का लक्षण सर्वमान्य नहीं है। वर्धमान उपाध्याय ने "पदार्थे तत्र तद्वत्ता" को योग्यता नहीं माना है। उनके अनुसार "इतर पदार्थ संसर्गे अपर पदार्थ निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व प्रमाविषयत्वाभाव" योग्यता है। अतः योग्यता का लक्षण बाधाभाव या "पदार्थे तत्र तद्वत्ता" न मानने पर आत्माश्रय दोष नहीं है। (अन्वयबोध के लक्षण में अन्वय–बोध का प्रवेश नहीं है)।

ऊपर जो यह कहा गया कि अत्यन्त असदर्थ का भी शाब्दबोध होता है वह नैयायिकों को मान्य नहीं है। "शशविषाण है" या आकाशकुसुम है आदि वाक्यों से जो बोध होता है वह अत्यन्त असदर्थ का बोध नहीं है। "शशविषाण" इस वाक्य से शश के विषाण का या विषाण में शशीयत्व का बोध होता है। ये दोनों भी असद् नहीं हैं। शश सद् है और विषाण भी सद् है। उसी प्रकार आकाश भी सद् है और कुसुम भी सद् है। अतः अत्यन्त अप्रसिद्ध अर्थ का बोध होता है। यह कथन समीचीन नहीं है। शशविषाण यह वाक्य अर्थपूर्ण है। परन्तु इस वाक्य से उत्पन्न बोध यथार्थ कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि आचार्य जगदीश ने कहा है कि यह वाक्य अयोग्य इसलिए है कि वह यथार्थ शाब्दबोध को उत्पन्न नहीं करता है।

विरोधियों का जो यह कथन है कि बाधज्ञान यदि प्रतिबन्धक है तो उस स्थिति में भी नाटक, सिनेमा, कविता, उपन्यास आदि से शाब्दबोध कैसे होता है। हम जानते हैं कि राम का अभिनय करने वाला नट, सीता का अभिनय करने वाली नटी या नट को सम्बोधित करता है कि "हे सीते" तब हम जानते हैं कि यह सीता नहीं है परन्तु 'हे सीते' कहने पर बाधज्ञान रहने पर भी सीता को सम्बोधित किया गया है ऐसा बोध होता है। अतः योग्यताज्ञान शाब्दबोध का आवश्यक तत्व नहीं है।

इस विषय में नैयायिकों की ओर से दो उत्तर दिये जाते हैं। पहला उत्तर यह है कि वहां जो बोध होता है वह आहार्य बोध होता है। बाधा होने पर भी इच्छावश होने वाले बोध को आहार्य कहते हैं। कविता, नाटक, उपन्यासादि से जो शाब्दबोध होता है वह आहार्य है अतः उसमें बाधाज्ञान विरोधी नहीं होता है। इसीलिए जगदीश तर्कालंकार ने कहा है कि यदि शाब्दबोध को आहार्य मानें तो निर्वन्हिर्वह्निभान पचन्नपचति" इत्यादि भी वाक्य ही हैं अर्थात् इस प्रकार के वाक्य से भी शाब्दबोध होता है।

परन्तु नैयायिकों का बहुमत शाब्दबोध आदि को आहार्य नहीं मानता है। प्रत्यक्ष ही आहार्य होता है। शाब्दबोध, अनुमिति आदि आहार्य नहीं होते हैं। अतः बाधज्ञान के रहते होने वाला बोध शाब्दबोध नहीं है। काव्यादि से होने वाला बोध शाब्दबोध नहीं है। वह मानस–बोध (कल्पना) है। इस पर यह आक्षेप हो सकता है जो बोध शब्दों के द्वारा होता है उसे मानस–बोध कहना उचित नहीं है, यदि कविताऽदि से उत्पन्न बोध को मानस–बोध मानें तो सभी प्रकार के शाब्दबोध को भी मानस–बोध मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कोई बोध शाब्दबोध नहीं होगा। फलस्वरूप शब्द पृथक् प्रमाण ही नहीं रहेगा।

इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि बाध–ज्ञान होने पर भी काव्यादिस्थल में चमत्कार रूप इष्ट की साधनता ज्ञान से इच्छा के कारण, बाधक प्रमा के अभाव का ज्ञान आहार्य के रूप में उत्पन्न होकर चमत्कार के लिए कारणीभूत शाब्दबोध को आहार्य के रूप में उत्पन्न करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आहार्य योग्यता का ज्ञान आहार्य शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहां की आहार्य–योग्यता ज्ञान से आहार्य–शाब्दबोध होता है। तात्पर्य यह है कि बाधज्ञान होने पर भी आहार्य–योग्यताज्ञान उत्पन्न होकर आहार्य–शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहां भी योग्यताज्ञान कारण होता ही है।

जो लोग शाब्दबोध को आहार्य नहीं मानते हैं उनका कथन है कि केवल शब्द से उत्पन्न होने के कारण कोई ज्ञान शाब्दबोध नहीं होता है, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष या शब्द से होने वाली अनुमिति की शब्दजन्य होने पर भी शाब्दबोध नहीं है। शाब्दबोध पद यह एक पंकजपद के समान योगरूढ़ पद है। यद्यपि नाटकादि से उत्पन्न ज्ञान शाब्द है परन्तु वह शाब्दबोध नहीं है। वह मानस–बोध, या पदार्थोपस्थिति मात्र है। काव्यादि से उत्पन्न बोध मानस होने पर भी सभी शाब्दबोध मानस–बोध नहीं हैं। क्योंकि अन्य बोधों को मानस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। पदज्ञान की कार्यता के अवच्छेदक रूप में सिद्ध शाब्दत्व जाति को मानस में मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ''पदं श्रृणोमि'' इस अनुव्यवसाय के आधार पर श्रावणत्व जाति अतिरिक्त सिद्ध होती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके आधार पर शाब्द–ज्ञान प्रत्यक्ष (मानस) से भिन्न के रूप में सिद्ध होता है। यदि श्रावण और मानस बोध एक ही होते तो ''आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः'' इसके द्वारा उन्हें अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इसी प्रकार कमलेकमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते इत्यादि उदाहरण शाब्दबोध को मानस प्रत्यक्ष से भिन्न सिद्ध करते हैं।

''शशश्रृंगो नास्ति'' इस वाक्य से शश में श्रृंग का अभाव या श्रृंग में शशीयत्व का अभाव मालूम होता है। अभाव–बुद्धि में प्रतियोगिज्ञान कारण है यह बात सत्य है। परन्तु यहां अभाव का प्रतियोगी शश–श्रृंग नहीं है, अतः उक्त बोध असद् विषयक नहीं है। अभाव का प्रतियोगी श्रृंग या शशीयत्व है जो दोनों भी सत् पदार्थ हैं।

सोन्दडोपाध्याय के मत में व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया है। अतः शशश्रृंगो नास्ति कहने पर शशीयत्वेन श्रृंगाभाव प्रतीत होता है। शशीयत्व यह श्रृंग में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म हैं। जैसे "घटत्वेन पटोनास्ति" यहां घटत्व पट में रहने वाली अभाव की प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म है।

गाली आदि में जो शाब्दबोध होता है वह लाक्षणिक बोध होता है। किसी को गधा कहने पर गधा पद की लक्षणा गधे के सादृश्य में होती है तथा मुझे गधे के समान कहा गया है ऐसा बोध होकर उसे क्रोध उत्पन्न होता है। गधे का मूर्खत्वेन सादृश्य मनुष्य में बाधित नहीं है। इसी प्रकार चन्द्रमुखी इत्यादि वाक्य से भी लक्षणयाबोध होता है। अथवा वहां पदार्थों की उपस्थिति मात्र होती है, शाब्दबोध नहीं होता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि योगयताज्ञान के विषय में स्वीकृत नैयायिक सिद्धान्त पूर्ण तथा समीचीन है।

4813, साईं मोह, गणेश नगर,
बड़गांव, शेटी, पुणे-411014 (महाराष्ट्र)

बौद्ध-न्याय में अपोहवाद की अवधारणा

डॉ. हेमलता श्रीवास्तव

दैनिक जीवन में हम मनुष्य, पशु–पक्षी, वृक्ष, पर्वत आदि वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, और उन्हें उनके वर्गों से संबंधित संज्ञा से अभिहित करते हैं भले ही उन वर्गों में आने वाली वस्तुओं में बिल्कुल समानता न हो। उदाहरणार्थ– गाय, भैंस, अश्व आदि को हम पशु की संज्ञा प्रदान करते हैं। यद्यपि उनमें से प्रत्येक एक दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न हैं और आपस में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के भारतीय एक ही संज्ञा 'मनुष्य' से अभिहित किये जाते हैं और उनको देखते ही हम उन्हें मनुष्य वर्ग में तुरन्त रख देते हैं, भले ही उनमें आपास में समानता न हो। हम ऐसा क्यों करते हैं? हम काले, गेहुएं आदि रंग के व्यक्तियों को मनुष्य इसलिए कहते हैं कि उनमें मनुष्यों की जाति विद्यमान है जो शाश्वत, नित्य और सर्वगत है जिसका व्यक्तियों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता। उदाहरण के लिए मनुष्य जाति तब भी थी जब किसी मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी और तब भी रहेगी जब सभी मनुष्यों का विनाश हो जायेगा। मनुष्य के जन्म, जरा और मरण से इस पर तनिक भी आंच नहीं आती। यही बात पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पर्वत, नदी, झील आदि नैसर्गिक वस्तुओं एवं भवन, कुर्सी, मेज, घड़ी, वायुयान आदि मानव–निर्मित वस्तुओं के लिए भी सत्य है।

बौद्ध–नैयायिकों ने उपर्युक्त समस्या को 'अपोह' के द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है। दूसरे शब्दों में इसे हम बौद्धन्याय का जाति या सामान्य–सिद्धान्त कह सकते हैं। यद्यपि दोनों में मौलिक भेद है। नैयायिकों के अनुसार जाति की मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की भांति वास्तविक सत्ता है। यह एक है, नित्य और अनेकों से समवेत रहता है। नैयायिकों के अनुसार जाति की उपलब्धि व्यक्ति की उपलब्धि के अधीन है। जाति और व्यक्ति की उपलब्धि एक साथ होती है। उनमें कालकृत भेद नहीं होता। किन्तु बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार 'अपोह' बुद्धि के संप्रत्यय हैं। वे बुद्धि–प्रसूत हैं। वे कल्पना की सृष्टि हैं और इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। उनके अनुसार शब्द और संप्रत्यय स्वभावतः द्वन्द्व–न्यायात्मक हैं। वे किसी वस्तु के स्वरूप के नहीं, अपितु उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति के बोधक हैं।[1] विरोध ही

उनका आधार है। स्वविरोध के द्वारा ही वे अप्रत्यक्ष रूप से अपने स्वरूप की ओर भी संकेत करते हैं। यद्यपि एक वर्ग में समाहित वस्तुएं भी एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। कोई भी ऐसी दो वस्तुएं सम्भव नहीं हैं जो एकरूप हों। किन्तु कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक मिलती हैं, जब हम उन सदृश वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से तुलना करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक जाति की हैं अथवा कोई सामान्य तत्व है जो इन सभी सदृश वस्तुओं में विद्यमान है। इस सामान्य तत्व की कल्पना की उत्पत्ति वस्तुओं के भेद की उपेक्षा के कारण होती है। उदाहरण के लिए दो गाएं एक–सी नहीं हैं फिर भी भैंस, अश्व, श्वान, पक्षी, वृक्ष और अन्य वस्तुओं की तुलना में उनमें आपस में साम्य है। इसी साम्य के कारण हमारे मन में तादात्म्य, जातिमत्ता या सामान्य की भ्रान्ति का जन्म होता है। इसे 'भेदाग्रह, अन्यव्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति' भी कहा जाता है।

वस्तुतः मानव–बुद्धि सीमित है। अतः विभिन्न वस्तुओं की भिन्नता को भूलना और उनके सादृश्य को ही ग्रहण करना इसकी सहज प्रवृत्ति है।[2] कमलशील के शब्दों में 'अविद्याग्रस्त होने के कारण हम वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। हम अपनी कल्पना से उन पर एक ऐसे आकार को आरोपित कर देते हैं जो सभी वस्तुओं के लिए एकरूप और सामान्य है, जबकि प्रत्येक वस्तु स्वभावतः एक दूसरे से भिन्न है। अनादि वासना के वशीभूत होने के कारण हम आरोपण–क्रिया को भूल जाते हैं और इस आरोपित आकार को ही वास्तविक वस्तु समझ बैठते हैं।[3] जबकि यह बौद्धिक संरचनामात्र है, इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

शान्तरक्षित ने 'अपोह' के दो भेद किए हैं। पर्युदास यानि सापेक्ष अभाव और निषेध या प्रसज्य–प्रतिषेध। पर्युदास भी द्विविध है बुद्ध्यात्मन जो कि प्रत्यय–भेद पर आधारित है और अर्थात्मन् वस्तु–भेद पर आधारित है।[4] बुद्ध्यात्मन किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर वास्तविक वस्तु की भ्रांति को जन्म देता है। अप्रत्यक्ष रूपसे इसी के द्वारा अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति भी हो जाती है। अर्थात्मन् की वास्तविक सत्ता है, यह स्वलक्षण का ही एक दूसरा नाम है। इसे वास्तविक अर्थ में अपोह नहीं कहा जा सकता। निषेध या प्रसज्य–प्रतिषेध पूर्ण निषेध का द्योतक है। यह वास्तव में स्वभिन्न वस्तुओं का निषेध करके किसी वस्तु का ज्ञान कराता है। जैसे– गाय अगाय नहीं है, मनुष्य अमनुष्य से भिन्न है, आदि। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द का केवल निषेधात्मक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार अपोह द्वारा ही अनुभवमूलक जगत् की सृष्टि होती है। वस्तुतः यह जगत् हमारे मस्तिष्क की कल्पना मात्र है। किन्तु अपोह द्वारा यह सत्य प्रतीत होता है। जगत् को वास्तविक रूप देने में अपोह को द्विविध समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम समन्वय में 'यह गाय है' 'यह श्वान है' इस प्रकार

के निर्णय देते हैं। यहां मानसिक आकार और स्वलक्षण (जो परस्पर पूर्णरूप से भिन्न है) के बीच एक मिथ्या तादात्म्य की स्थापना की जाती है और हम उन दोनों को एक ही वस्तु मानते हैं। द्वितीय समन्वय द्वारा हम अत्यन्त भिन्न स्वलक्षणों को अज्ञानवश एक–रूप मान लेते हैं और उन्हें एक ही शब्द द्वारा सम्बोधित करते हैं, मानों वे एक ही वर्ग के सदस्य हों और एक ऐसे सामान्य से युक्त हों जो सब में व्याप्त हो। इस तादात्म्य की उत्पत्ति का कारण कोई ऐसा सामान्य गुण नहीं, जो किसी वर्ग की सभी वस्तुओं में विद्यमान है। उदाहरण के लिए हम गाय, भैंस, अश्व या किसी अन्य वस्तु को देखते हैं। यद्यपि गायें पूर्णतया भिन्न हैं और उनमें ऐसा कोई सामान्य गुण नहीं जो सभी गायों में पाया जाता हो, सिवा इसके कि वे दूध के व्यापार में समानता रखती हैं और उनकी उत्पत्ति समान कारणों से होती है। किन्तु उन सभी गायों में एक निषेधमूलक सामान्य है और वह यह कि वे अगाय– अश्व, सिंह आदि से समान रूप से भिन्न हैं।

किन्तु इन समन्वयों में हमें दो क्रियाओं की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। उपर्युक्त प्रक्रिया का आचार्य दिङ्नाग ने निम्नलिखित शब्दों में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उनका कथन है कि शब्दों– वर्ग विषयक सत्ताओं का मूल विचार– आकारों में है और आकारों का मूल शब्दों या नामों में है। वे परस्पर कारण–कार्य रूप में सम्बद्ध हैं। शब्द या नाम वस्तु तत्व का स्पर्श नहीं कर सकते।[6] संक्षेप में वाचस्पति मिश्र के शब्दों में 'अपोह' या मानसिक संप्रत्यय का वास्तविक कार्य भेद में अभेद की स्थापना करना, देश, काल और गुण के भेद में एकत्व आरोपित करना अथवा 'यह वह है' आदि निर्णय देना है।[7]

अपोह से वस्तुमूलक जगत् की भ्रान्ति की रचना सहसा नहीं होती। एक वास्तविक जगत् की भ्रान्ति तक पहुंचने के लिए बुद्धि को निम्नलिखित कार्य–व्यापार करने पड़ते हैं। सर्वप्रथम हम किसी विशेष वस्तु, उदाहरण के लिए गाय का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। इससे हमारे मस्तिष्क में एक ऐसे प्रतिबिम्ब का आविर्भाव होता है जो उन प्रतिबिम्बों के समान है जो उसी प्रकार की अन्य गायों को देखने से उत्पन्न हुए थे। चूंकि ये प्रतिबिम्ब एक साथ नहीं होते इसलिए बुद्धि इनके भेद को नहीं ग्रहण कर पाती और उन्हें एक–रूप मान लेती है।[8] इन आकारों के तादात्म्य से इनके कारणों निर्विकल्प संवेदनों के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है। इन संवेदनों के तादात्म्य से इनके मूल कारण स्वलक्षणों के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है क्योंकि ये स्वलक्षण इन्हीं के माध्यम से प्रतिबिम्बित होते हैं। इस प्रक्रिया को हम इन शब्दों में व्यक्त करते हैं–

'एकरूप प्रत्ययों के कारण संवेदनों के संबंध में तादात्म्य की भ्रान्ति होती है और संवेदनों के तादात्म्य की भ्रान्ति के कारण उनके मूल स्वलक्षणों के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है।'[9]

कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, भामह, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट और श्रीधर आदि आचार्यों ने बौद्ध अपोहवाद की कटु आलोचना की है। कुमारिल अपोहवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि बौद्ध नैयायिकों के अनुसार मानसिक आकार या अपोह से किसी निषेधमूलक वस्तु का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, गाय से अगाय के निषेध का ज्ञान होता है। कुमारिल के अनुसार गाय शब्द से अगाय के निषेध का ज्ञान तभी होता है जब गाय का ज्ञान हो क्योंकि अगाय गाय का निषेध है। अतः बौद्ध नैयायिकों को सर्वप्रथम गाय शब्द का अर्थ बताना चाहिए जिसका वे अगाय से निषेध करते हैं। वस्तुतः मूल पद (तत्) को बिना समझे तदितर का निषेध नहीं किया जा सकता। प्रत्येक निषेध का एक विध्यात्मक आधार होता है। जब तक विध्यात्मक संकेत का ग्रहण न हो तब तक निषेधात्मक संकेत का विचार भी मन में नहीं आ सकता। यदि यह कहा जाये कि गाय का स्वरूप अगाय के निषेध के अतिरिक्त कुछ नहीं है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा।[10] यदि हम यह कहें कि अपोह का अर्थ मात्र निषेध है, तो उसका अर्थ यह होता है कि यह शून्यवाद का पर्याय है और इसलिए उन सभी दोषों से ग्रस्त है जो शून्यवाद में व्याप्त हैं। इस प्रकार गाय से गाय का बोध होता है, न कि अगाय–भिन्न किसी वस्तु का।

भामह ने भी अपोहवाद में उपरोक्त दोष दिखाए हैं। उनके अनुसार अपोहवाद मानवीय अनुभव के विपरीत है। शब्दों से व्यावृत्ति का बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए जब हम गाय, अश्व, हाथी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनसे किसी भावात्मक सत्ता का ही बोध होता है। यदि गाय शब्द से अगाय के निषेध का बोध होता तो गाय शब्द सुनने पर हमारे मस्तिष्क में अगाय के प्रत्यय की अनुभूति नहीं होती। यदि शब्दों से मात्र निषेध अर्थात् 'अगाय' आदि का ही बोध हो तो हमें गाय आदि भावमूलक शब्दों का बोध कराने के लिए अन्य शब्दों का आविष्कार करना पड़ेगा क्योंकि यह संभव नहीं कि किसी शब्द से युगपद् दो अत्यन्त विरुद्ध वस्तुओं का बोध हो।

बौद्ध–नैयायिक के अनुसार कुमारिल और भामह की उपर्युक्त आपत्तियां निराधार हैं। उनके अनुसार 'अगाय' के ज्ञान के बिना गाय का ज्ञान असंभव है। प्रथम का ज्ञान द्वितीय की व्यावृत्ति पर ही निर्भर है। इसको न मानने पर हमारे लिए भेद करना कठिन होगा। उदाहरण के लिए यदि हम किसी व्यक्ति मोहन को जानना चाहते हैं तो हमें यह ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है कि वह सोहन, राजीव, सुरेश आदि नहीं है। इन व्यक्तियों के ज्ञान के अभाव में मोहन का ज्ञान असंभव होगा। अतः मोहन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मोहनेतर व्यक्तियों की व्यावृत्ति अनिवार्य है क्योंकि यदि कोई व्यक्ति मुझसे यह कहे कि आप मेरे लिए एक गाय ला दीजिए और मैं यदि गाय को हाथी, अश्व, मेज, कुर्सी आदि 'अगाय' से भिन्न रूप में नहीं जानता तो मैं 'गाय' के स्थान पर हाथी, अश्व, मेज, कुर्सी आदि कुछ

भी ला सकता हूं। वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द से वस्तुओं की व्यावृत्ति न मानने पर किसी व्यक्ति के यह कहने पर कि 'गाय को खूंटे में बांध दो', हम गाय के स्थान पर अश्व को खूंटे में बांध देंगे। अतः बौद्ध और नैयायिक दोनों ही मत एक–सी कठिनाई से ग्रस्त हैं। वस्तुतः दोनों ही अन्योन्याश्रय–दोष से युक्त हैं। सही बात तो यह है कि भाव और अभाव दोनों ही सापेक्ष पद हैं। वे जुड़वे भाइयों के समान हैं। एक का बोध होते ही अन्य की व्यावृत्ति का भी बोध हो जाता है।[12] कमलशील के शब्दों में 'भाव' और 'अभाव' किसी वस्तु का अस्तित्व और उसकी विरुद्ध वस्तु का निषेध सहचारी शब्द हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो अपनी विजातीय वस्तु से व्यावृत्त न हो।[13]

अपोहों की विविधता विषयक आपत्ति भी सर्वथा निराधार है। विविधता का कारण हमारे मानसिक संस्कार हैं जो हमारे मस्तिष्क में अनादि काल से विद्यमान हैं। अपोहों की विविधता की व्याख्या करते हुए कमलशील ने कहा कि अपोहों में भेद न तो उन वस्तुओं के कारण है जो उनका आश्रय है और न व्यावृत्त वस्तुओं के कारण है, अपितु शाश्वत और अनादि कालीन संस्कारों की विविधता के कारण है। वस्तुतः विविध वस्तुओं पर आरोपित आकार के रूप में ही इनकी सत्ता है, उससे भिन्न रूप में नहीं। इन्हीं वस्तुओं की विविधता के कारण ये विविध प्रतीत होते हैं। अतः अपोहों की विविधता और वस्तुनिष्ठता का कारण हमारे संस्कार हैं।[14] यहां नैयायिक बौद्ध–नैयायिकों पर हस्तक्षेप करते हैं। उनके अनुसार सही बात तो यह है कि संस्कारों की उत्पत्ति वस्तुतः वस्तु के ही कारण होती है, अतः अपोहों की विविधता और वस्तुनिष्ठता को संस्कारजन्य कहना ठीक नहीं है।[15]

कमलशील अपोहवाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अपोह का अभिप्राय केवल यह है कि विधिमूलक बोध के साथ ही साथ दूसरी वस्तुओं की व्यावृत्ति के रूप में निषेधमूलक बोध भी होता है। हमें किसी वस्तु का साक्षात्कार प्रत्यय रूप से नहीं, अपितु अप्रत्यय रूप से होता है। अन्ततोगत्वा हमारा मानसिक संज्ञान हमें वस्तु का प्रत्यय प्रदान करता है। अतः वस्तुवादी और बौद्ध–नैयायिकों में भेद इस बात में है कि वस्तुवादियों के अनुसार शब्द से किसी वास्तविक वस्तु की सत्ता का बोध होता है, जबकि बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार शब्द से किसी वास्तविक वस्तु की सत्ता का बोध नहीं होता।[16]

उद्योतकर अपोहवाद की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यह विधि असंबद्धताओं से ग्रस्त है। उनके अनुसार केवल दो ही विकल्प संभव हैं। अपोह–अगाय को हम या तो विधिमूलक मानें या निषेधमूलक। प्रथम अवस्था में इसमें और गाय या अगाय में कोई भेद नहीं होगा। दोनों एक ही वस्तु होंगी। यदि यह और गाय एकरूप है तो नैयायिकों के जाति–सिद्धान्त और अपोहवाद में कोई अन्तर नहीं होगा और यदि यह तथा अगाय एक–रूप है तो यह मानवीय अनुभव के विरुद्ध होगा क्योंकि जगत्

में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो गाय के गुणों को अगाय में आरोपित करता हो।[17] यदि हम इसे निषेधमूलक मानें तो भी समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि गाय से अगाय की व्यावृत्ति मानने पर दो ही बातें हो सकती हैं : यह गाय से भिन्न है या अभिन्न। गाय से भिन्न होने पर प्रश्न उठता है कि यह किसी वस्तु में समाहित है या नहीं? यदि यह किसी वस्तु में समाहित है तो इसे गुण मानना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि गाय शब्द का द्रव्यत्व नष्ट हो जायेगा और 'गाय दूध देती है' आदि कथन निरर्थक होंगे क्योंकि गुण द्रव्य के अभाव में किसी क्रिया का सम्पादन नहीं करते। यदि यह कहीं भी समाहित नहीं है तो 'गाय' का अनगाय (अ+अ+गाय) के रूप में वर्णन करना व्यर्थ है। यदि हम यह कहें कि यह गाय से अभिन्न है तो इसमें और गाय में कुछ भी अन्तर नहीं होगा। अतः यह व्याख्या मानने से वस्तुवादी और बौद्ध–नैयायिक के शब्दार्थ विषयक सिद्धान्त में कुछ भी अन्तर नहीं रह जायेगा।

बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार उद्योतकर की उपर्युक्त आलोचनाएं निराधार हैं। अपोह का अर्थ मात्र निषेध नहीं है। इसका अर्थ है वह मानसिक आकार जिसका आश्रय स्वलक्षण है अर्थात् शब्द से स्वलक्षण के आकार का बोध होता है। इसका निश्चित रूप से बोध हो जाने पर अन्य सभी वस्तुओं का निषेध स्वतः हो जाता है।[18] पुनश्च, अपोहवाद आचार्य दिङ्नाग के सिद्धान्त के भी विरुद्ध नहीं है। उनके अनुसार शब्द से स्वलक्षण के आकार का बोध होता है न कि स्वलक्षण का। शब्द इसका स्पर्श तक नहीं कर सकते।[19]

श्रीधर और जयन्त भट्ट ने भी अपोहवाद की आलोचना की है जो कुमारिल और उद्योतकर की आलोचनाओं से मिलती–जुलती है। श्रीधर बौद्ध–नैयायिकों के इस तर्क की कि चूंकि हम सविकल्प ज्ञान के विविध आकारों के अन्तर को नहीं ग्रहण कर पाते इस कारण उन्हें भिन्न मानते हैं। अतः जिस प्रकार बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार आकारों के अन्तर को न ग्रहण कर पाने के कारण हमें उनके एकरूप होने की भ्रान्ति होती है उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि विविध आकारों की एक–रूपता न ग्रहण कर पाने के कारण हमें उनकी भिन्नरूपता की भ्रान्ति होती है। अतः उपर्युक्त तर्क के आधार पर एक धर्म की वस्तुओं को उसी वर्ग की वस्तुओं के रूप में समझना असम्भव होगा।[20]

जयन्त भट्ट का अपोह के विरुद्ध मुख्य तर्क इस प्रकार है। विविध अपोहों में कोई भेद नहीं है क्योंकि वे सभी निषेधमूलक हैं। यदि उनमें भेद को स्वीकार किया जाये तो वे स्वलक्षण की भांति विविध प्रकार के होंगे। ऐसी स्थिति में वे विधिमूलक और वास्तविक होंगे।

न्याय–वैशेषिक तथा मीमांसक उपरोक्त आपत्तियों के कारण अपोहवाद को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विभिन्न विशेषों में एकाकारता की प्रतीति विधिमुखेन होती है, निषेधमुखेन नहीं। अतः गोत्व आदि धर्मों को अतद्व्यावृत्ति न

मानकर भावात्मक सामान्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। बौद्ध–नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त आलोचनाएं अपोह के स्वरूप को ठीक से न समझने के कारण हैं। अपोह मात्र निषेध का बोधक नहीं है। सर्वप्रथम यह शब्द द्वारा इंगित वस्तु के आकार को उत्पन्न करता है। इससे वस्तु के स्वरूप का बोध हो जाने के अनन्तर अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति स्वतः हो जाती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि न्याय–वैशेषिकों एवं मीमांसकों की उपरोक्त आपत्तियों के बावजूद अपोहवाद की उपयोगिता कम नहीं हो जाती। वास्तव में जितना महत्व न्याय–वैशेषिक के सामान्य विषयक यथार्थवादी सिद्धान्त का है उससे कम महत्व बौद्ध–दर्शन के अपोहवाद का नहीं है। इसने शब्दार्थ के ज्ञान का एक वैकल्पिक सिद्धान्त दिया। वास्तव में दोनों प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त शब्दार्थ का ज्ञान कराने में उपयोगी हैं। जहां एक ओर यथार्थवाद यह बताता है कि कोई वस्तु क्या है वहीं दूसरी ओर अपोहवाद तदितर वस्तुओं से भेद दिखाकर उसकी व्याख्या करना चाहता है। इसी कारण रत्नकीर्ति–कृत अपोहवाद की व्याख्या में उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय दिखाई देता है। उनके अनुसार अपोह का अर्थ किसी वस्तु के अस्तित्व की स्वीकृति तथा तदितर वस्तुओं की व्यावृत्ति है। बौद्ध ज्ञानमीमांसा में तो इस सिद्धान्त का पर्याप्त महत्व है क्योंकि बौद्ध दार्शनिक अपोहवाद की सहायता से ही अनुभवमूलक जगत् की व्याख्या करते हैं।

दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद–211004

संदर्भ एवं टिपप्णी

1. *प्रमाणसमुच्चयम्*
2. *भेदाग्रहः न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ 339।*
3. *तत्वसंग्रहपंज्जिका, पृष्ठ 274।*
4. *तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः।*
   द्विविधश्च पर्युदासोऽपि बुद्धयात्मार्थात्मभेदतः।। तत्वसंग्रह, 1004
5. *क्रिटीक आव् इण्डियन रियलिज्म, पृष्ठ 353।*
6. *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ 68।*
7. *एकं अविभागं स्वलक्षम् अनादिविकल्पवासनासमारोपितजात्यादिभेदं तया तथा विकल्प्यते। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ 89।*
8. *न्यायकन्दली, पृष्ठ 318।*
9. *वही, पृष्ठ 319।*
10. *सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मश्च सा।*
    तत्र गौरेव वक्तव्यो नत्रा यः प्रतिषिद्ध्यते।।
    स च चेद्‌गोनिवृत्यात्सा भवेदन्योन्यसंश्रयः।

सिद्धश्चेद् गौरपोहार्य वृयापोहप्रकल्पना।
गव्यसिद्धेत्वगौर्नास्ति तद्भावे च गौः कुतः।।
श्लोकवार्तिक, अपोहवाद 83–85।

11. तत्वसंग्रह, 1012–1014 ।
12. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति टीका, पृष्ठ 287।
13. तत्वसंग्रहपंज्जिका, पृष्ठ 32।
14. वही, पृष्ठ 305।
15. श्लोकवार्तिक, अपोहवाद 100 ।
16. तत्वसंग्रहपंज्जिका, पृष्ठ 339 ।
17. तत्वसंग्रह, 982, 988 ।
18. प्रतिबिम्ब हि शब्दार्थ इति साक्षादियं गतिः।
    जात्यादिविधिहानिस्तु सामर्थ्यादवगम्यते।। तत्वसंग्रह, 1197 ।
19. तत्वसंग्रहपंज्जिका, पृष्ठ 320 ।
20. न्यायकन्दली, पृष्ठ 319 ।

न्याय और बौद्ध दर्शन में व्याप्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन

श्री गोपी कृष्ण

भारतीय परम्परा में अनुमान को भी यथार्थ ज्ञान के एक स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसकी विवेचना न्याय–दर्शन में वृहत् रूप से की गई है। शब्द–विन्यास के आधार पर अनुमान दो शब्दों के योग से बना है, जो 'अनु' तथा 'मान' हैं, जिसमें 'अनु' का अर्थ पश्चात् अथवा पीछे तथा 'मान' का अर्थ ज्ञान है। इसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान पीछे अथवा बाद में आने वाला ज्ञान है। इसी शब्द–विन्यास के आधार पर *न्याय–सूत्र* में अनुमान की परिभाषा 'तत्पूर्वकमनुमानम्'[1] के रूप में की गई है, जिसका अर्थ यह है कि जिसके पूर्व में कोई ज्ञान आता है, वही अनुमान है। परंतु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुमान–पूर्व कौन–सा ज्ञान आता है? अर्थात् किसके बाद आने वाले ज्ञान को अनुमान कहा जाएगा? वात्स्यायन ने तत्पूर्वकम् की व्याख्या करते हुए बतलाया कि तत्पूर्वक दो प्रत्यक्षों का द्योतक है– (1) पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष तथा (2) हेतु तथा साध्य के बीच के एक निश्चित संबंध का प्रत्यक्ष। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो अनुमान के पूर्व आता है, अर्थात् अनुमान प्रत्यक्ष के बाद आने वाला ज्ञान है। न्याय–दर्शन में इस अनुमान की प्रक्रिया को निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा प्रमुख रूप से व्यक्त किया गया है –

पर्वत पर धूम है।
जहां–जहां धूम होता है, वहां–वहां अग्नि होती है।
अतः पर्वत पर अग्नि है।

उपर्युक्त उदाहरण में पर्वत पद 'पक्ष' कहलाता है, धूम 'हेतु' तथा अग्नि पद को 'साध्य' कहा गया है। अनुमान को उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि अनुमान दो प्रकार के प्रत्यक्षों के बाद आने वाला ज्ञान है। पहला–पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष तथा दूसरा–हेतु तथा साध्य के बीच एक निश्चित संबंध का प्रत्यक्ष। इन्हीं दोनों प्रत्यक्षों के आधार पर अनुमिति की जाती है और यही अनुमान है। इसी प्रकार के अनुमान को 'अनुमितिः अनुमानम्' के रूप में भी परिभाषित किया गया है।

अनुमान की उपर्युक्त परिभाषा में एक कठिनाई सामने आती है। भारतीय परम्परा में अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में लिया गया है, परन्तु अनुमान की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर अनुमान को तो पूरी तरह से प्रत्यक्ष पर आधारित मानना होगा। तो फिर इसे ज्ञान–प्राप्ति के एक स्वतंत्र साधन के रूप में किस प्रकार लिया जा सकेगा ?

न्याय परंपरा में इस कठिनाई को समझा गया और इसलिए अनुमान को एक दूसरे महत्वपूर्ण रूप से परिभाषित किया गया और इस दूसरे रूप में ही न्याय दर्शन में प्रायः अनुमान को समझा गया है। इस दूसरी परिभाषा के अनुसार 'अनुमितिकरणमनुमानम्' अर्थात् अनुमिति को नहीं बल्कि अनुमिति के कारण को अनुमान कहा जाएगा।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमिति का करण कौन है? अनुमिति का करण कौन है यह देखने से पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि न्याय–दर्शन में करण से क्या तात्पर्य है। अर्थात् न्याय–दर्शन में करण किसको कहा जाता है? हम जानते हैं कि किसी घटना को उत्पन्न करने के लिए सिर्फ एक कारण काफी नहीं होता बल्कि विभिन्न कारणों का समूह मिलकर किसी घटना को उत्पन्न करते हैं। इन विभिन्न कारणों में से कुछ ही कारण ऐसे होते हैं जो कि घटना को उत्पन्न करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी घड़े के निर्माण के कारण के रूप में मिट्टी, कुम्भकार, कुम्भकार का चक्र, उसका दण्ड, जल, चक्र की गति आदि को लिया जाता है। इन विभिन्न कारणों में से घड़े के निर्माण में जो एक असाधारण अथवा सबसे विशिष्ट कारण होगा उसे ही घड़े का करण कहा जा सकता है। अतः करण वैसे कारण को कहा जा सकता है जो किसी घटना को उत्पन्न करने का सबसे विशिष्ट कारण हो। प्राचीन न्याय–दर्शन में करण को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्'[2] अर्थात् किसी भी प्रमा के उस असाधारण कारण को जिसके व्यापार अथवा क्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है, करण कहा जाता है। तत्पश्चात् न्याय–दर्शन में अनुमिति का विशिष्ट कारण या करण किसे कहा जाएगा यह देखने की चेष्टा करेंगे। जैसा हमने ऊपर देखा कि अनुमिति के पूर्व दो प्रकार के प्रत्यक्ष की आवश्यकता है– एक हेतु तथा साध्य के बीच नियत–साहचर्य का संबंध तथा दूसरा हेतु का प्रत्यक्ष। अनुमिति का कारण ये ही दोनों प्रत्यक्ष हैं। अतः अनुमिति के लिए व्याप्ति–ज्ञान तथा पक्षधर्मता–ज्ञान (पर्वत पर धूम है) ये दोनों आवश्यक हैं। यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस व्याप्ति–ज्ञान तथा पक्षधर्मता–ज्ञान, इन दोनों में से अनुमिति का करण कौन होगा? अर्थात् अनुमिति का विशिष्ट कारण कौन है? व्याप्ति–ज्ञान अथवा पक्षधर्मता–ज्ञान?

न्याय–दर्शन में अनुमिति के कारण को लेकर विवाद है। कुछ नैयायिक व्याप्ति–ज्ञान को अनुमिति का करण मानते हैं तो कुछ नैयायिक पक्षधर्मता–ज्ञान को अनुमिति का करण मानते हैं। नव्य–न्याय दर्शन में उपर्युक्त दोनों विचारों को एकांगी माना गया है। उनके अनुसार अनुमिति के लिए व्याप्ति–ज्ञान तथा पक्षधर्मता–ज्ञान दोनों समान रूप से आवश्यक हैं। अतः पक्षधर्मता–ज्ञान तथा व्याप्ति–ज्ञान, दोनों का ही सम्मिलित फल है। परन्तु ऐसा नहीं है कि अनुमिति–ज्ञान व्याप्ति–ज्ञान+पक्षधर्मता ज्ञान का परिणाम है, बल्कि यह व्याप्ति–विशिष्ट पक्षधर्मता–ज्ञान का परिणाम है। यह वास्तव में अलग–अलग नहीं बल्कि एक समन्वित ज्ञान है, और यही अनुमिति का तत्काल कारण है। इसलिए यही अनुमिति का करण है। *तत्वचिंतामणि* में गंगेश कहते हैं– 'व्याप्ति–विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान जन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करणमनुमानम्'[3] अर्थात् व्याप्ति–विशिष्ट पक्षधर्मता–ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति तथा उसके करण को अनुमान कहते हैं। इस व्याप्ति–विशिष्ट पक्षधर्मता–ज्ञान रूपी समन्वित व्यापक ज्ञान को नव्य–न्याय में परामर्श अथवा विशेष तौर पर लिंग–परामर्श की संज्ञा दी जाती है। कभी–कभी इसे तृतीय–लिंग–परामर्श के नाम से भी पुकारा जाता है। न्याय परंपरा में अनुमान को सिर्फ एक तार्किक प्रक्रिया के रूप में ही नहीं लिया गया है। इसमें मानसिक प्रक्रिया भी शामिल है।

बौद्ध दर्शन में भी अनुमान की विषद् विवेचन की गई है। दिग्नाग, धर्मकीर्ति, मनोरथनंदी, शांतरक्षित आदि बौद्ध दार्शनिकों ने अनुमान के सम्बन्ध में वृहत् रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। बौद्ध आचार्य दिग्नाग ने प्रथमतः अनुमान के दो भेद– स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान करके अनुमान का लक्षण व्यक्त किया है। "ज्ञात अविनाभाव संबंध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।"[4] एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न हो पाना 'नान्तरीयक' कहलाता है यथा, जिस व्यक्ति का अग्नि और धूम्र से नान्तरीयक संबंध का बोध होगा, उसे ही धूम्र–दर्शन से अग्नि का बोध होगा। धर्मकीर्ति ने *'प्रमाण वार्तिक'* में अनुमान का लक्षण इस प्रकार से दिया है 'किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो ज्ञान परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं।'[5] मनीरथनंदी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि अन्वय–व्यतिरेक लिंग द्वारा, उसके आश्रय में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है उसे अनुमान कहते हैं, जो त्रिरूप–लिंग द्वारा उत्पन्न होता है। त्रिरूप–लिंग के द्वारा ही साध्य अथवा अर्थ का ज्ञान होता है, जिसका तीनों रूप निम्न प्रकार से है –

(1) लिंग का अनुमेय में होना (पक्ष में रहना) प्रथम रूप है।– धूम्र (लिंग) के दर्शन से अग्नि (साध्य) की उपस्थिति इसलिए हो पाती है कि धूम्र का अग्नि में सत्व होता है। इस प्रकार लिंग होने का अर्थ है अनुमेय अथवा साध्य में अविनाभाव रूप से उपस्थित होना।

(2) लिंग का द्वितीय रूप उसके सपक्ष में निश्चित सत्व है– जिस स्थान में अग्नि की सत्ता पहले से निश्चित होती है उसे सपक्ष कहते हैं, जिसमें साध्य की उपस्थिति असंदिग्ध अथवा निश्चित होती है तथा पक्ष में अग्नि (साध्य) की उपस्थिति संदिग्ध होती है। दोनों में समानता यह है कि दोनों में अग्नि होती है पर सपक्ष में असंदिग्ध तथा पक्ष में संदिग्ध।

(3) लिंग का तृतीय रूप लिंग का असपक्ष (विपक्ष) में निश्चित असत्व है। असपक्ष सपक्ष का अभाव है। वह स्थान जहां साध्य का सदैव अभाव रहता है असपक्ष या विपक्ष कहलाता है। जैसे– जल में धूम्र का अभाव। यहां जल असपक्ष या विपक्ष है।

ऊपर हमने न्याय और बौद्ध दर्शनों में वर्णित अनुमान के स्वरूप की चर्चा की है। दोनों ही दर्शनों में अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति का एक अति महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए नीचे हम संक्षेप में इन दोनों दर्शनों में वर्णित व्याप्ति के स्वरूप की चर्चा करेंगे। 'व्याप्ति' दो वस्तुओं के बीच के एक विशेष प्रकार के संबंध का नाम है, जिनमें से एक को व्याप्य तथा दूसरे को व्यापक कहा जाता है। यह विशेष प्रकार के संबंध दोनों के बीच नियत–साहचर्य का संबंध है। यहां ध्यातव्य हैं कि दो वस्तुओं के बीच सिर्फ साहचर्य को व्याप्ति नहीं कहते, बल्कि नियत (Invariable) साहचर्य–संबंध को व्याप्ति कहते हैं। धूम तथा अग्नि में नियत–साहचर्य है। जहां भी धूम होता है वहां अग्नि होती है; बिना अग्नि के धूम का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतः धूम तथा अग्नि में व्याप्ति–संबंध है।

आगे व्याप्ति दो प्रकार का माना गया है– सम–व्याप्ति तथा विषम–व्याप्ति। धूम तथा अग्नि के बीच विषम–व्याप्ति है, जबकि अनियतत्व तथा उत्पत्ति–धर्मकत्व के बीच सम–व्याप्ति है। सम–व्याप्ति में साध्य तथा साधन दोनों का एक दूसरे के साथ नियत–साहचर्य होता है।

प्राचीन न्याय–वैशेषिक मत– ऊपर जो व्याप्ति के स्वरूप की चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि दो वस्तुओं के बीच नियत–साहचर्य–संबंध को व्याप्ति संबंध कहते हैं। यह वास्तव में प्राचीन–न्याय मत ही है। पर यहां प्रश्न उठता है कि साहचर्य की नियतता की पहचान क्या है? उत्तर स्वरूप न्याय–वैशेषिक कहते हैं वही साहचर्य नियत माना जाएगा जो स्वाभाविक तथा अनौपाधिक होगा। (अनौपाधिक : संबंधः इति ब्रूमः। तस्मादनौपाधिकत्वमेव स्वाभाविकम्) व्याप्ति दो वस्तुओं के बीच निःशर्त साहचर्य का संबंध है।

नव्य–न्याय मत– गंगेश ने पहले अनुमान के स्वरूप तत्पश्चात् व्याप्ति के स्वरूप की विवेचना *तत्वचिन्तामणि* में की है। गंगेश ने पूर्व–पक्ष के अनुरूप भारतीय परंपरा के विवेचन–पद्धति के अनुरूप व्याप्ति की उन परिभाषाओं का विवेचन तथा खण्डन किया जो उनके अनुसार त्रुटिपूर्ण हैं। वो पांच परिभाषाएं, निम्नलिखित हैं, जिन्हें व्याप्तिपंचक भी कहते हैं।

(क) 'साध्याभाववद्वृत्तित्वम्'[6]

(ख) 'साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववद्वृत्तित्वम्'[7]

(ग) 'साध्यवप्रतियोगिकन्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्'[8]

(घ) 'सकलसाध्याभाववनिष्टाभावप्रतियोगित्वम्'[9]

(ङ) 'साध्यवद्न्यावृत्तित्वम्'[10]

इसके बाद वे व्याप्ति की अपनी निर्णायक परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, जिसे सिद्धान्त–लक्षण व्याप्ति का नाम दिया जाता है। वह निम्न प्रकार से है– 'प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाअधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन समं तस्य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः'[11] अर्थात् हेतु के समस्त आश्रयों या अधिकरणों में साध्य का विद्यमान होना तथा उसके साथ कभी भी उसका अभाव उपलब्ध न होना हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति–संबंध कहलाता है।

ऊपर हमने व्याप्ति के स्वरूप की चर्चा की। इसके पश्चात् अब हम नीचे व्याप्ति–ग्रहण के उपाय या साधन की चर्चा करेंगे।

'व्याप्तिग्रहोपाय'–

प्रथम : अन्वय विधि – एक वस्तु के भाव से दूसरी वस्तु का भी भाव होना अन्वय कहलाता है।

द्वितीय : व्यतिरेक विधि – दो संबंधी वस्तु में एक का अभाव होने से हमेशा दूसरे वस्तु का अभाव देखा जाना व्यतिरेक कहलाता है।

तृतीय : भूयोदर्शन – दो संबंधी वस्तुओं के बीच बार–बार अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार का निरीक्षण भूयोदर्शन कहलाता है।

चतुर्थ : तर्क – भूयोदर्शन में शेष व्यभिचार का निरास तर्क के द्वारा होता है। इस तर्क को हम *Reductio-ad-adsurdum* तर्क कह सकते हैं। अन्नम् भट्ट ने कहा है कि हेतु में व्याप्ति के विनिश्चयीकरण के लिए उपाधि का निराकरण अनिवार्य है।

जब दो वस्तुओं के बीच एक ही सार लक्षण मौजूद हो तो उनके बीच तादात्म्य संबंध माना जाता है। जैसे– गिंगण तथा वृक्ष दोनों का सार लक्षण 'वृक्षत्व' है। इसलिए इन दोनों में तादात्म्य संबंध है तथा दोनों में व्याप्ति संबंध भी है, परंतु जहां साध्य–साधन में अत्यंत अभेद पाया जाता है वहां तादात्म्य संबंध नहीं होता।

पंचम : सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति– यह एक विशेष प्रकार का अलौकिक ज्ञान है जो हमें किसी विशेष वस्तु में उपस्थित सामान्य–लक्षण (Universal character) के द्वारा उसके साथ एक अलौकिक संबंध है, जिसके द्वारा एक ही साथ भूत, वर्तमान तथा भविष्य की एक विशेष जाति के सभी विशेष का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

ऊपर हमने न्याय–वैशेषिक मत के द्वारा व्याप्ति–ग्रहण का उपाय देखा। तत्पश्चात् हम बौद्ध मतों में व्याप्ति ग्रहण के विषयों की चर्चा करेंगे।

बौद्ध दर्शन में लिंग और साध्य के नियत–अविनाभाव संबंध को व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति अनुमान का तार्किक आधार है। व्याप्ति के अभाव में अनुमिति संभव नहीं है। यहां सहज ही एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि व्याप्ति का ज्ञान कैसे होता है? बौद्ध मतों में व्याप्ति–ग्रहण के विषयों की विशद विवेचना है, परंतु यहां इसका संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है। इस मत के अनुसार व्याप्ति 'अविनाभाव' है। सर्वप्रथम दिग्नाग ने इस रूप में व्याप्ति की परिभाषा की थी। बाद में धर्मकीर्ति ने भी इसमें अपनी सहमति दी। 'अविनाभाव' के अनुसार साध्य के अभाव में हेतु का भी अभाव होना व्याप्ति है। लेकिन यह तो केवल व्यतिरेक–व्याप्ति के जैसा प्रतीत होता है। वास्तविकता यह नहीं है। बौद्ध मत के अविनाभाव में अन्वय–व्याप्ति भी समाहित है। जहां भी हेतु है निश्चित रूप से साध्य भी वहां है। इस प्रकार अविनाभाव में साध्याभाव में साधनाभाव तथा साधनभाव में साध्यभाव दोनों ही अवधारणाएं समाहित हैं। धर्मकीर्ति कहते हैं कि साधन तथा साध्य के बीच अविनाभाव दो ही संबंधों के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है– (1) तादात्म्य (Identity) तथा कार्य–कारण (Causality)।[12]

तादात्म्य–भाव के अलावा 'अविनाभाव' के लिए कार्य–कारण भाव भी व्याप्ति निश्चयायक है। जैसे, साधन धूम साध्य अग्नि का कार्य है ('पर्वत में अग्नि है, धूम होने से' अनुमान में)। कारण के बिना कार्य की सत्ता नहीं होती, इसीलिए कारण (अग्नि) के अभाव में कार्य (धूम) के कभी नहीं पाए जाने से, धूम तथा अग्नि में व्याप्ति संबंध है। इस प्रकार दो ही साधनों के द्वारा अविनाभाव अथवा व्याप्ति संबंध का निर्धारण होता है। 'कार्यकारणभावाद्वा स्वाभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्शन्नान न दर्शनात्।'[13] अर्थात् हेतु के साथ साध्य के सहचार दर्शन तथा इसके व्यभिचारी के मात्र अदर्शन से व्याप्ति–सिद्धि नहीं होती।

आगे न्याय तथा बौद्ध दर्शन में कुछ विरोधाभास भी देखे जा सकते हैं जो निम्न प्रकार से हैं–

बौद्ध यह मानते हैं कि भूत, भविष्य तथा वर्तमान के समस्त उदाहरणों का निरीक्षण तर्कतः असंभव है। बौद्ध तदुपत्ति के सिद्धांत के अनुसार जब साधन तथा साध्य दोनों पदों में कार्य–कारण संबंध होता है तो दो पदों के बीच व्याप्ति स्थापित की जा सकती है। जैसे, धूम्र और अग्नि के बीच कार्य–कारण संबंध है। अतः यह व्याप्ति स्थापित की जा सकती है कि जहां–जहां धुआं है वहां–वहां आग है। तादात्म्य के सिद्धान्त के अनुसार जब दो वस्तुओं में तात्विक समानता (Identity of essence) होती है तो दोनों के बीच तादात्म्य संबंध समझना चाहिए।

परंतु नव्य–नैयायिक इस मत का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि व्याप्ति ज्ञान के लिए तदुत्पत्ति और तादात्म्य का ज्ञान आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार

केवल अन्वय या केवल व्यतिरेक या अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति–ज्ञान संभव है, जिस संबंध का विनिश्चयीकरण तर्क तथा सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा होता है।

व्याप्ति–ज्ञान के लिए बौद्ध तदुत्पत्ति और तादात्म्य के सबंध का सहारा लेते हैं, जो तार्किक नियम है और किसी सीमा तक प्रागनुभविक भी है। परंतु न्याय दर्शन व्याप्ति को आनुभविक ज्ञान ही मानता है तथा इसे नियत–अव्यभिचारी साहचर्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

ऊपर जो हमने न्याय और बौद्ध दर्शनों के अनुसार व्याप्ति के स्वरूप की चर्चा की है उसमें दोनों विचारों में स्पष्ट अंतर प्रतीत होता है। बात चाहे व्याप्ति के स्वरूप की हो अथवा व्याप्ति के स्थापना के विधि की हो, दोनों में अंतर स्पष्ट दिखता है। लेकिन अंतर होते हुए भी न्याय और बौद्ध के व्याप्ति–विचार में कुछ महत्वपूर्ण साम्य भी मौजूद है।

शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

संदर्भ

1. *न्याय सूत्र – 1.1.5*
2. *न्याय बोधिनी – पृ. सं.–25.*
3. *तत्वचिन्तामणि, पृ. सं.–24.*
4. *नान्तरीयकार्यदर्शनं तद्विऽदोनुमानम् इति.*
5. *प्रमाण वार्तिक– 2/62.*
6. *तत्वचिन्तामणि, पृ. सं.–141.*
7. *वही, पृ. सं.–141.*
8. *वही, पृ. सं.–141.*
9. *वही, पृ. सं.–391.*
10. *वही, पृ. सं.–391.*
11. *वही, पृ. सं.–391.*
12. *सौपाधिकोहेतुव्याप्यत्वासिद्धः – तत्वसंग्रह*
13. *प्रमाणवार्तिक – 3–14.*

नव-बौद्ध धर्म : न पलायन, न प्रतिक्रिया वरन् परिवर्तन की प्रक्रिया

श्री सुधांशु शेखर

भूमिका –

आज देश–दुनियां 'सभ्यताओं के संघर्ष' तथा 'इतिहास एवं विचारधाराओं के अंत' जैसे प्रायोजित विचारों से संक्रमित है और यहां 'धर्म' 'कटघरे' में खड़ा है। धर्म एवं धार्मिकता आज दोहरा मार झेल रही है। एक ओर 'धर्म–दुश्मन' भौतिक उन्नति एवं स्वच्छंदता के अधिकार को जीवन का चरम लक्ष्य मानकर अनैतिकता एवं अराजकता को बढ़ावा दे रहे हैं, तो दूसरी ओर 'धर्म के ठेकेदार' इसे हिंसा, वैमनस्य, कट्टरता एवं शोषण का पर्याय बनाकर मनुष्य एवं मनुष्यता को नष्ट करने पर तुले हैं। ऐसे में आज फिर से 'नये बुद्ध' की जरूरत है, जो नयी चुनौतियों के अनुरूप 'नया धर्म' गढ़ सके और जीवन–जगत् के अतिवादी द्वन्द्वों के बीच 'मध्यम–मार्ग' पर चलने का आदर्श प्रस्तुत कर सके। इसी जरूरत को देखते हुए प्रस्तुत विषय का चयन किया गया है। यह विषय उड़ीसा एवं कर्नाटक में धर्मांतरण को लेकर चल रहे ताजा विवादों की पृष्ठभूमि में भी प्रासंगिक है।

धर्म : अफीम नहीं आशा – डॉ. भीमराव अम्बेडकर धर्म को मानव–जीवन एवं समाज–व्यवस्था के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार– "मनुष्य मात्र रोटी के सहारे जीवित नहीं रह सकता। उसका एक मस्तिष्क भी होता है, जिसे विचार रूपी खुराक की जरूरत होती है। धर्म मनुष्य में आशा का संचार करता है और उसे कर्म के लिए प्रेरित करते हैं।"[1] वे धर्म को अपनी प्रेरणा का स्रोत मानते थे लेकिन धर्म के नाम पर होने वाले पाखंड, शोषण एवं अनैतिकता के खिलाफ थे। उनका कहना है कि "धर्म के प्रति नवयुवकों को उदासीन देखते हुए मुझे दुःख होता है। धर्म अफीम नहीं है, जैसा कि कुछ लोग (मार्क्सवादी) मानते हैं। जो कुछ भी अच्छी बातें मेरे अंदर हैं अथवा मेरी शिक्षा से समाज को जो कुछ भी लाभ हुए हैं, मैं उन्हें अपने अंदर की धार्मिक भावनाओं के कारण मानता हूं। मैं धर्म चाहता हूं, किन्तु धर्म के नाम पर दोगलापन नहीं चाहता।"[2]

विकृति नहीं वैज्ञानिकता – डॉ. अम्बेडकर धर्मों के नाम पर जारी पाखंड, हिंसा, शोषण एवं अनैतिकता आदि विकृतियों के खिलाफ थे और वैज्ञानिकता की हिमायत करते थे। उन्होंने धर्म–संबंधी अपनी धारणाओं का निम्न प्रकार से विश्लेषण किया है –

(1) समाज को अपने को सुसंगठित बनाये रखने के लिए या तो कानून की अनुमति प्राप्त हो या फिर नैतिकता (धर्म) की। दोनों के बिना समाज निश्चित ही टुकड़े–टुकड़े हो जायेगा।

(2) धर्म.. विज्ञान के अनुरूप होना चाहिए। यदि धर्म विज्ञान के अनुकूल नहीं है तो समय के दौरान वह सम्मान खो बैठेगा और इसलिए उपहास का विषय बन जायेगा एवं विघटित होकर समाप्त हो जायेगा।

(3) धर्म को समाज–नैतिकता की एक संहिता के रूप में एक और मानदंड की पूर्ति करनी चाहिए। धर्म के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उसमें नैतिक संहिता हो। उसकी नैतिक संहिता को स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व जैसे मौलिक आदर्शों को भी मान्यता देनी चाहिए। जब तक कोई धर्म सामाजिक जीवन के इन मौलिक सिद्धान्तों को मान्यता नहीं देता, उसका भविष्य अंधकारमय है।

(4) धर्म द्वारा निर्धनता को पवित्र नहीं मानना चाहिए। उन लोगों द्वारा धन–सम्पत्ति का त्याग, जिनके पास वह है, एक आनंदपूर्ण अवस्था हो सकती है, किन्तु निर्धनता कभी नहीं। निर्धनता को आनंदपूर्ण अवस्था घोषित करना धर्म को विकृत करना है, दुर्गुण तथा अपराध को बनाये रखना है और पृथ्वी को जीवित नरक बनाने की अनुमति देना है।''[3]

हिन्दुइज्म नहीं बुद्धिज्म – डॉ. अम्बेडकर ने अपने उक्त विश्लेषण के आलोक में हिन्दू धर्म को अन्यायपूर्ण एवं दुर्भावना से प्रेरित करार दिया और हिन्दू धर्म त्यागने की घोषणा की। सन् 1935 ई. में नासिक की एक विशाल जनसभा में उन्होंने ऐलान किया कि ''मैंने हिन्दू धर्म में जन्म लिया है, यह मेरे वश की बात नहीं थी, किन्तु यह मेरे वश की बात है कि मैं हिन्दू रहकर मरूं नहीं''। इस घोषणा के बाद लगभग 21 वर्षों तक उन्होंने विश्व के सभी प्रमुख धर्मों का गहराई से विश्लेषण किया। फिर 14 अक्टूबर 1956 ई. को नागपुर में उन्होंने अपने लगभग 5 लाख साथियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उद्घोषणा की कि ''बुद्धिज्म एक पूर्ण व्यापक धर्म है.. बुद्धिज्म का मुख्य लक्ष्य दुःखी मानवता का उद्धार करना है।''[4] उन्होंने आगे कहा, ''यह धर्म न केवल इस देश की, अपितु समस्त संसार की सेवा कर सकता है। दुनिया के मामलों में इस समय विश्वशांति के लिये बुद्धिज्म परमावश्यक है। आज हमको शपथ लेनी चाहिये कि हम बुद्ध के अनुयायी मात्र स्वयं अपनी मुक्ति के लिए ही कर्म नहीं करके, अपने देश और सामान्यतः दुनिया को समुन्नत करने का प्रयास करेंगे।''[5] अतः स्पष्ट है कि अम्बेडकर का बौद्ध धर्म ग्रहण करना न पलायन, न प्रतिक्रिया वरन् परिवर्तन की प्रक्रिया है।

विश्वास नहीं तर्क – डॉ. अम्बेडकर विश्वास की बजाय तर्क पर आधारित धर्म चाहते थे। उन्होंने तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के कारण ही बौद्ध धर्म स्वीकार किया। अपनी पुस्तक 'बुद्ध और उनका धम्म' में उन्होंने लिखा है कि "बचपन में दादा केलुसकर द्वारा दी गयी पुस्तक की सहायता से बुद्ध की ओर मुड़ा। उस अल्पायु में बुद्ध की ओर खाली दिमाग लेकर नहीं गया था। मेरे पास एक पृष्ठभूमि थी और बौद्ध–ज्ञान को पढ़ने में मैं सदैव तुलना और भिन्नता कर सकता था। यही बुद्ध एवं उनके धम्म में मेरी रुची का प्रस्थान–बिंदु है।"[6] जाहिर है कि वे विश्व के अन्य धर्मों की तुलना में बौद्ध धर्म से अधिक प्रभावित थे। 'बौद्ध धर्म एवं दलित चेतना' पुस्तक के लेखक डॉ. श्यामवृक्ष मौर्य ने अम्बेडकर द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पांच कारण बताये हैं–

"1) डॉ. अम्बेडकर के अनुसार धर्म मनुष्य के लिये आवश्यक है, पर वह मनुष्य– केन्द्रित होना चाहिए। ऐसा धर्म जो मनुष्य को साधन बनाता हो, उन्हें कभी पसंद नहीं आया। इसलिये उन्होंने हिन्दू, इस्लाम, ईसाई सभी धर्मों को छोड़कर बौद्ध धर्म को ग्रहण किया, जो मनुष्य–केन्द्रीयता की कसौटी पर खरा उतरता है। मानव और मानवता का इतना बड़ा पक्षधर धर्म दुनिया का कोई दूसरा धर्म नहीं है।

2) डॉ. अम्बेडकर को परलोक और विश्वास पर आधारित धर्म के विरुद्ध एक तर्कप्रधान मानव–कल्याणकारी धर्म की आवश्यकता थी और उनको बौद्ध धर्म में उपर्युक्त दोनों विशेषताएं दिखाई दीं। महात्मा बुद्ध का कथन था कि "तुम मेरी बात इसलिए मत मानो कि यह मेरी बात है। इसे तुम अपनी बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसो और इसके बाद भी तुम्हें सत्य लगे तब मेरी बात मानो।" दीन–दुःखियों और दलितों की जितनी सेवा बौद्ध धर्म ने की है, उतनी दुनिया के किसी अन्य धर्म ने नहीं।

3) डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म की जातिवादी व्यवस्था और अस्पृश्यता से सबसे अधिक सताये गये थे। स्वाभाविक था, जो इस धर्म का विरोध करेगा वही उन्हें पसंद आयेगा। हिन्दू धर्म की जातिवादी व्यवस्था पर सबसे पहले और जोरदार प्रहार बौद्ध धर्म द्वारा किया गया था, जिससे नीची और शोषित जातियों में राजनैतिक, सामाजिक चेतना जगी और अपने गौरवपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक सम्मान को प्राप्त किया।"

4) डॉ. अम्बेडकर को स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व–प्रधान धर्म की खोज थी। बौद्ध धर्म में उपरोक्त समस्त विशेषताएं पाई जाती हैं।

5) डॉ. अम्बेडकर एक ऐसा धर्म ग्रहण करना चाहते थे, जो दलितों को सामाजिक और राजनैतिक सम्मान तथा अधिकार प्रदान कर सके। बौद्ध धर्म इस दृष्टि से भी उनको सबसे अधिक उपयुक्त लगा।"[7]

डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की भी तर्कपूर्ण समीक्षा की और नव–बौद्ध धर्म का प्रतिपादन किया, जिसकी मुख्य मान्यताएं निम्न हैं –

पलायन नहीं विद्रोह – डॉ. अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध ने रोगी, वृद्ध, मृतक एवं संन्यासी को देखकर घर से पलायन नहीं किया। बुद्ध के प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करने का यह पारम्परिक कारण अतार्किक एवं असंगत है। अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'बुद्ध और उनका धम्म' में बुद्ध के गृहत्याग का विस्तृत वर्णन किया है। यह संक्षेप में इस प्रकार है– एक बार रोहिणी नदी के जल–प्रयोग एवं वितरण को लेकर शाक्यों एवं कोलियों के बीच का झगड़ा युद्ध की स्थिति तक पहुंच गया। फिर शाक्य–संघ में युद्ध का प्रस्ताव लाया गया तो संघ के एक सदस्य के रूप में सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने उस प्रस्ताव का विरोध किया और शांति–वार्ता का सुझाव दिया। किन्तु बहुमत से युद्ध का प्रस्ताव पारित हो गया। इसके बावजूद सिद्धार्थ ने युद्ध का निर्णय मानने से इंकार कर दिया। इसी विवाद के दौरान अंत तक लोगों को युद्ध के लिए छट–पटाते देखकर सिद्धार्थ ने प्रव्रज्या (संन्यास) का मार्ग अपनाया। यह वास्तव में लोक–कल्याणार्थ उठाया गया एक ऐतिहासिक कदम था।

जीवनः दुःख नहीं दुर्लभ – डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि ''जीवन स्वभावतः दुःख है– यह सिद्धान्त बौद्ध धम्म की जड़ पर ही कुठाराघात करता है। यदि जीवन ही दुःख है, मरण भी दुःख है और पुनर्जन्म भी दुःख है तब तो सब कुछ समाप्त है। न धर्म ही किसी व्यक्ति को सुखी बना सकता है और न दर्शन ही। यदि दुःख से मुक्ति नहीं है तो धर्म भी क्या कर सकता है और बुद्ध भी किसी आदमी को दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए क्या कर सकते हैं...?''[8]

अतः अम्बेडकर मानते है कि निरा दुःखवादी होना बुद्ध की मूल शिक्षा (मध्यम–मार्ग) के विपरीत है। संसार में दुःख के साथ–साथ सुख भी है। करुणा, मैत्री, प्रेम, निर्वाण (मोक्ष) इत्यादि भी इसी संसार में हैं– ये किसी भी तरह दुःख नहीं हैं। निराशावाद नहीं है। उन्होंने कहा कि ''यह कथन कि जन्म दुःख है, अतिशयोक्ति है, यह भगवान बुद्ध के ही एक दूसरे प्रवचन से सिद्ध किया जा सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि ''मनुष्य–जन्म दुर्लभ है''। फिर यदि बुद्ध ने केवल दुःख की ही बात की होती, तब भी शायद तथागत पर यह आरोप नहीं लग सकता था, क्योंकि भगवान बुद्ध का दूसरा आर्य सत्य इस बात पर जोर देता है कि दुःख का अंत होना चाहिए। दुःख का अंत करने की बात पर जोर देने के लिए ही तथागत को दुःख के अस्तित्व की चर्चा करनी पड़ी। भगवान बुद्ध ने दुःख दूर करने की बात को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। यही कारण है कि जब उन्होंने देखा कि कपिल ने दुःख के अस्तित्व की चर्चा भर की है और इससे अधिक कुछ नहीं किया, तो वे असंतुष्ट होकर आलार का आश्रम तक छोड़ दिये। तब ऐसे धर्म को निराशावादी कैसे कहा जा सकता है? निश्चय ही जो समस्त दुःख का अंत देखने के लिए इतने उत्सुक थे, निराशावादी नहीं कहे जा सकते।''[9]

आत्मा नहीं मन – बुद्ध ने आत्मा का सामान्य नहीं विशेष अर्थ लिया है। "बुद्ध ने कहा है कि जिस धर्म का सारा दारोमदार आत्मा पर निर्भर है, वह काल्पनिक धर्म है। आज तक किसी ने भी न तो आत्मा को देखा है और न ही उससे बातचीत की है। आत्मा अज्ञात और अदृश्य है। जो चीज वास्तव में है, वह मन या चित्त है, आत्मा नहीं। मन आत्मा से भिन्न है।"[10] डॉ. अम्बेडकर का कहना है कि "आत्मा के समस्त कार्य भगवान बुद्ध द्वारा विश्लेषित विज्ञान (चित्त) कर देता है। आत्मा के लिये कुछ कार्य शेष नहीं बचता है। अतः जिस आत्मा का कोई कार्य नहीं, ऐसी आत्मा बेहूदगी है। इस प्रकार बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को असिद्ध किया है। यही कारण है कि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना 'अधम्म' है।"[11] स्पष्टतः बौद्ध दर्शन का सारा कार्य प्रतीत्यसमुत्पाद एवं 'अष्टांगिक मार्ग' एवं पंचशील आदि सिद्धान्तों से हो जाता है और स्थायी आत्मा का अस्तित्व मानने की जरूरत नहीं है।

भूत–भविष्य नहीं वर्तमान – बुद्ध ने कहा कि "जैसा बोओगे, वैसा पाओगे," लेकिन उनका यह कर्म–सिद्धान्त मात्र वर्तमान जीवन से जुड़ा है। उन्होंने यह नहीं माना कि व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण अंधा, लूला–लंगड़ा अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होता है। उन्होंने शोषणकारी समाज–व्यवस्था एवं भाग्यवाद के पोषक वैदिक कर्म–सिद्धान्त का विरोध किया है। उन्होंने कहा, "भिक्षुओं कुशल कर्म करने में मत झिझको। यह जो कुशल कर्म शब्द है, यह एक प्रकार से सुख या जिसकी हम इच्छा करते हैं, उसका या जो हमको प्रिय है, उसका अथवा जो कुछ हममें आनंद देने वाला है, उसका पर्याय है। भिक्षुओं मैं स्वयं साक्षी हूं कि मैंने स्वयं चिरकाल तक शुभ कर्मों के इच्छित, रुचिकर, प्रिय तथा आनंददायक फल का उपयोग किया है।"[12] बुद्ध के इन प्रेरक वचनों को आधार बनाकर अम्बेडकर ने शोषितों, दलितों एवं महिलाओं को 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' का संदेश दिया।

पुनर्जन्म नहीं पुनरुत्पत्ति – बुद्ध के पुनर्जन्म सिद्धान्त के संबंध में डॉ. डी.आर. जाटव लिखते हैं कि "जब मृत्यु होती है, तब शरीर की शक्ति (उर्जा), जो देह में सन्निहित थी, वह सारे शक्ति–समुच्चय के साथ मिलकर एक हो जाती है जो विश्व में विद्यमान है। अतः मृत्यु का मतलब है– नई शक्ति की उत्पत्ति रुक जाना और विश्व के शक्ति–पुंज में उसका घुल जाना। जब जन्म होता है तब उसी शक्ति–पुंज में से वह देह के साथ समाहित हो जाती है, किन्तु ये सभी क्रियाएं परिवर्त्तन, अनित्यता तथा सापेक्षता के कारण संभव हैं। अतः भगवान बुद्ध नाम–रूप की पुनरुत्पत्ति में विश्वास करते थे, नित्य आत्मा के पुनर्जन्म में नहीं। लेकिन वह शक्ति–पुंज कोई विश्वात्मा या ब्रह्म नहीं है, वह तो चेतना का पुंज है जो भौतिक तत्वों के साथ–साथ विद्यमान है। पुनर्जन्म में दोनों भौतिक एवं चेतन तत्व (चेतसिक अंश) जन्म लेने वाले में समाहित हो जाते हैं जो सामान्य घटना है, किसी तादात्म्य

की पुनरुत्पत्ति नहीं है। प्रत्येक परिवर्तन अपने में नया होता है। अनित्यता तथा क्षण–क्षण की अवस्था में, तादात्म्य संभव नहीं है। अतः मृत्यु तथा जन्म के अनंतर ये भौतिक तथा चेतसिक तत्व विद्यमान रहते हैं।''[13] अम्बेडकर लिखते हैं, ''इस विद्यमान राशि में से जब चारो महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) का पुनर्मिलन होता है, तो पुनर्जन्म होता है। भगवान बुद्ध का पुनर्जन्म का अभिप्राय यही है। इन भौतिक पदार्थों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे उसी शरीर के हों जिसका मरण हो चुका है, वे नाना मृत शरीरों के भौतिक अंश हो सकते हैं।''[14]

मोक्षदाता नहीं मार्गदाता – भगवान बुद्ध ने अपने आपको राम–कृष्ण की तरह ईश्वर अथवा ईसा–मुहम्मद की तरह ईश्वर–पुत्र या देव–दूत नहीं कहा। उन्होंने 'अप्प दीपो भव' का संदेश दिया और स्वमुक्ति एवं सर्वमुक्ति के लिये कर्म करने को प्रेरित किया। वास्तव में वे मुक्तिदाता नहीं मार्गदाता थे। इसलिये अम्बेडकर ने बौद्ध–धर्म को 'मानव–मुक्ति' का मार्ग माना है। बहुचर्चित दार्शनिक ओशो कहते हैं, ''गौतम बुद्ध अतुलनीय हैं। गौतम बुद्ध बस गौतम बुद्ध हैं। पूरी मनुष्य जाति के इतिहास में वैसा महिमापूर्ण नाम दूसरा नहीं है। गौतम बुद्ध ने जितने हृदयों की वीणा को बजाया है, उतना और किसी ने नहीं। गौतम बुद्ध के माध्यम से जितने लोग जागे और जितने लोगों ने परम भगवत्ता उपलब्ध की है, उतनी किसी और माध्यम से नहीं''[15]

चर्चा नहीं अनुभव – बौद्ध धर्म को लेकर दार्शनिकों एवं व्याख्याकारों के बीच काफी मतांतर है। कुछ लोगों ने उन्हें नास्तिक एवं निराशावादी करार दिया तो कुछ लोगों ने आध्यात्मिक–अद्वैतवादी। आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म एवं मोक्ष से संबंधित उनके विचारों को लेकर होने वाले मतभेदों का सम्यक् समाधान ओशा ने किया है। वे कहते हैं, ''बात व्यर्थ है। अनुभव व्यर्थ नहीं। आत्मा–परमात्मा, मोक्ष शब्द की भांति दो कौड़ी के हैं अनुभव की भांति उनके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं है। बुद्ध ने मोक्ष को व्यर्थ नहीं कहा है, मोक्ष की बातचीत को व्यर्थ कहा है। परमात्मा को व्यर्थ नहीं कहा है। लेकिन परमात्मा के संबंध में सिद्धान्तों का जाल, शास्त्रों का जाल, उसको व्यर्थ कहा है। ..... ईश्वर की चर्चा करते–करते तुम्हें लगता है कि ईश्वर को जान लिया। ईश्वर के संबंध में जान लेने से लगता है कि ईश्वर को जान लिया। लेकिन ईश्वर के संबंध में जानना ईश्वर को जानना नहीं है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई प्यासा पानी के संबंध में सुनते–सुनते सोच ले कि पानी जान लिया और प्यास तो बुझी नहीं। पानी की चर्चा से कहीं प्यास बुझी है? परमात्मा की चर्चा से प्यास बुझेगी नहीं और जिनकी बुझ जाये, समझना उसको प्यास लगी ही न थी।''[16] नव–बौद्ध धर्म को भी ऐसे ही 'प्यासे' लोगों की तलाश है। जो लोग सिर्फ प्रतिक्रिया स्वरूप या लोभ–लालच से धर्म परिवर्तित कर नव–बौद्ध बनेंगे उनका कोई भला नहीं होने वाला है।

निष्कर्ष – अतः आज यह जरूरी है कि हम 'स्वमुक्ति' एवं 'सर्वमुक्ति' के लिए कोरी चर्चा एवं वाद–विवाद के भ्रमजाल से निकलकर अनुभव के गहरे पानी में उतरें। हमें बुद्ध एवं अम्बेडकर सहित तमाम गुरुओं एवं विचारकों की पूजा, अर्पण–तर्पण एवं पिण्डदान को छोड़कर नये युग की चुनौतियों को स्वीकार करना चाहिए और साम्राज्यवाद, आतंक, हिंसा, भूख, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, संप्रदायवाद, जातिवाद एवं अन्य दुःखों से संघर्ष तथा एक स्वस्थ, समृद्ध एवं संबुद्ध दुनिया के निर्माण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहिए। इसी प्रक्रिया की सफलता 'बुद्ध, एवं 'अम्बेडकर' की सफलता है और नये मनुष्य एवं नई मनुष्यता की आशा भी।

शोधार्थी, स्नातकोत्तर दर्शन-शास्त्र विभाग,
ति.मा. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

संदर्भ

1. *धनंजय कीर : डॉ. अम्बेडकर–लाइफ एंड मिशन, 1962, पृ.–499*
2. *वही, पृ.–304*
3. *बी.आर. अम्बेडकर : बुद्ध एंड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलिजन (लेख), 1950, पैरा–12–13.*
4. *भगवानदास : दस स्पोक अम्बेडकर (सलेक्टेड स्पीचेज) (संकलित/संपादित), खंड–2, 1969 : पृ–161–162*
5. *वही, पृ.–164.*
6. *डॉ. भीमराव अम्बेडकर : बुद्ध और उनका धम्म (अनुवाद–भदंत आनंद कौसल्यायन) भूमिका, पृ.–24.*
7. *डॉ. श्यामवृक्ष मौर्य : बौद्ध धर्म एवं दलित चेतना, प्रथम संस्करण–2007, पृ.– 83–84.*
8. *डॉ. भीमराव अम्बेडकर : बुद्ध और उनका धम्म (अनुवाद– भदंत आनंद कौसल्यायन) भूमिका, पृ. 26–27.*
9. *वही, पृ.–285.*
10. *वही, पृ.–158.*
11. *वही, पृ.–161.*
12. *वही, पृ.–160.*
13. *डॉ. डी.आर. जाटव : बुद्ध और बौद्ध धर्म–दर्शन, प्रथम संस्करण–1996, पृ.–72.*
14. *डॉ. भीमराव अम्बेडकर : बुद्ध और उनका धम्म (अनुवाद–भदंत आनंद कौसलयायन), पृ.–72.*
15. *ओशो : एष धम्मो सनातनो, भाग–1, पृ.–4.*
16. *वही, पृ.–81–82.*

धर्म और विज्ञान : समन्वय का व्यावहारिक समीकरण

डॉ. सरोज कुमार वर्मा

धर्म और विज्ञान के संबंध को लेकर यह कहा जाता है कि यद्यपि विधि, क्षेत्र, दृष्टिकोण और परिणाम आदि को लेकर दोनों में भेद है, परंतु इनकी वजह से वे एक–दूसरे के विरोधी नहीं हैं। चूंकि दोनों का उद्देश्य मानवता का कल्याण है, इसलिए वे इन भेदों के बावजूद एक–दूसरे के पूरक और सहयोगी हैं। अतः जीवन का संतुलित विकास दोनों के समन्वय से ही संभव हो सकता है। धर्म–दर्शन की सभी पुस्तकों में इसी तरह की बात कही गई है और इसके समर्थन में आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक की इस उक्ति को भी उद्धृत किया गया है कि "विज्ञान धर्म के बिना पंगु है और धर्म विज्ञान के बिना अंधा।" फिर गैलवे जैसे पाश्चात्य धर्म–दार्शनिक भी इन दोनों के विरोध को खारिज करते हैं और भारत में स्वामी विवेकानंद जैसे समकालीन दार्शनिक से लेकर स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिक ओशो (रजनीश) तक ने दोनों के समन्वय की अनिवार्यता पर बल दिया है। विवेकानंद इस समन्वय के लिये, जैसा कि रामधारी सिंह 'दिनकर' उद्धृत करते हैं, विनिमय की जरूरत बताते हुए कहते हैं– "पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किंतु, हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं।..... पश्चिमवालों से हमें एक विनियम करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में, भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे।"[1] इसी तरह ओशो (रजनीश) का कहना है कि– "पूरी जिन्दगी स्वीकृत होनी चाहिए। .... भौतिकवाद जीवन का आधार बने, अध्यात्मवाद जीवन का शिखर। न तो शिखर को इंकार करना उचित है, न बुनियाद को इन्कार करना उचित है। जीवन इकट्ठा है। विज्ञान और धर्म एक साथ स्वीकृत होने चाहिए।"[2]

(1)

इस प्रकार यह प्रतिपादित किया गया है कि धर्म और विज्ञान का समन्वय संभव है और जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये यह आवश्यक है। सैद्धांतिक स्तर पर यह संभव लगता भी है परंतु व्यावहारिक स्तर पर यह संभव हो नहीं पाया है।

इस समन्वय के प्रयास में अब तक जो परिणाम आये हैं उनकी पड़ताल से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस पड़ताल की शुरुआत राधाकृष्णन् के उस कथन से की जा सकती है जिसमें वे प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं– ''प्राचीन भारतीयों ने गणितविद्या एवं यंत्रविद्या की नींव डाली थी। उन्होंने भूमि का माप किया, वर्ष के विभाग किये, आकाश के नक्शे तैयार किये, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहों के, राशिमंडलीय परिधि के अंदर घूमने के मार्ग का परिशीलन किया, प्रकृति की रचना का विश्लेषण किया, एवं प्राकृतिक पक्षियों, पशुओं, पेड़–पौधों और बीजों आदि तक का अध्ययन किया। .... इस देश के वासी पत्थरों को तराशना, तस्वीरें बनाना, सोने पर पलिश करके उसे चमकाना और कीमती कपड़े बुनना जानते थे। उन्होंने उन सब प्रकार की कलाओं, ललित एवं औद्योगिक कलाओं का विकास किया, जिनसे सभ्य जीवन की परिस्थितियां प्राप्त होती हैं।'[3] मगर सवाल उठता है कि इन तमाम उपलब्धियों के बावजूद आखिर भारत में विज्ञान का विकास उस तरह से क्यों नहीं हो पाया, जिस तरह से यूरोप में हुआ?

इसलिये कि धर्म और विज्ञान को एक साथ लेकर नहीं चला जा सकता। व्यवहार में यह समन्वय संभव नहीं है, क्योंकि दोनों की दिशायें विपरीत हैं। धर्म आंतरिक जगत् की खोज है, विज्ञान बाह्य जगत् की। धार्मिक व्यक्ति अपने–आप को जानने की प्रक्रिया में लगा रहता है, जबकि वैज्ञानिक व्यक्ति बाह्य वस्तुओं को जानने में संलग्न रहता हैं। धर्म का उद्देश्य आत्मज्ञान है, विज्ञान का उद्देश्य प्रकृति–विजय। इस भिन्नता के कारण ही एक हद तक खोज करने के बावजूद भारत विज्ञान की दिशा में यूरोप की तरह बहुत आगे नहीं बढ़ सका, कयोंकि भारत की मूल प्रवृत्ति धार्मिक रही है। धर्म का पालन और धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति यहां का अभीष्ट रहा है। इसलिए सदा ही इसी उद्देश्य को प्राप्त करने की कोशिश की गई और न केवल कोशिश की गई बल्कि इसे प्राप्त कर मानवता को समृद्ध करने वाले प्रेम, करुणा, दया, सहिष्णुता, आदि तमाम मूल्य विकसित किये गये। मूलतः धार्मिक होने के कारण यहां के लोगों ने आत्मज्ञान को ही अपना लक्ष्य रखा और जब उन्हें इस लक्ष्य की प्राप्ति हुई यानि अपनी आत्मा को जाना तो इसके साथ उन्होंने यह भी जान लिया कि दूसरे के अंदर भी वही आत्मा निवास करती है। इस प्रकार वे इस सत्य से वाकिफ हो गये कि सिर्फ दूसरा व्यक्ति ही नहीं, अन्य सभी प्राणी, यहां तक कि संपूर्ण विश्व ही, उन्हीं का अनंत विस्तार है। इसलिए किसी दूसरे व्यक्ति, प्राणी अथवा प्रकृति का अहित करना अपना ही अहित करना है, उन्हें नष्ट करना अपने को ही नष्ट करना है। इसी बोध के आधार पर यहां अहिंसा, अपरिग्रह, सद्भाव और सर्वसुरक्षा (जिसमें प्रकृति की सुरक्षा भी शामिल है) के नैतिक नियम प्रतिपादित किये गये और उनका पालन सबके लिए अनिवार्य किया गया। इस आत्मबोध की प्रक्रिया में सदा संलग्न रहने के कारण ही यहां बाह्य वस्तुओं को

जानने की ज्यादा कोशिश नहीं की गई। इसीलिए यहां प्रतिभा होने के बावजूद, क्योंकि वह आंतरिक खोज में संलग्न रही, बाह्य खोज की तरफ उत्सुक नहीं हुई, पश्चिम की तरह विज्ञान विकसित नहीं हो सका। ओशो (रजनीश) इसे स्वीकारते हुए कहते हैं– "पांच हजार वर्षों में इतने प्रतिभाशाली लोग हमने पैदा किये लेकिन एक बड़ा वैज्ञानिक पैदा नहीं किया। ..... बुद्ध, महावीर, कृष्ण, राम, शंकर, नागार्जुन इत्यादि हमने एक से एक प्रतिभाशाली लोग पैदा किये, लेकिन इनमें से एक भी वैज्ञानिक नहीं था। हम वैज्ञानिक पैदा न कर पाये। एक भी आइन्स्टीन पैदा न कर पाए।..... दस आइन्स्टीन पैदा हो सकते थे, एक बुद्ध के व्यक्तित्व से। एक कृष्ण की क्षमता से दस आइन्स्टीन पैदा हो सकते थे। लेकिन हम एक भी वैज्ञानिक पैदा न कर पाये। प्रतिभाशाली लोग पैदा हुए, लेकिन .... वे आत्मा की धारा में बहते चले गये।"[4]

दरअसल आत्मा की धारा में बहना इतना आनंददायक होता है कि फिर देह की धारा में बहने की कोई आकांक्षा नहीं रह जाती। यह आत्मज्ञान इतना आनंद से भर देता है कि अन्य किसी बाह्य सुख की जरूरत नहीं होती। जैसे कोई बच्चा बड़ा होता है तो खिलौना उससे छूट जाता है, उसे प्रयास करके छोड़ना नहीं पड़ता, क्योंकि तब दूसरी चीजें उसके लिए ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती हैं और खिलौने से खेलने में उसे कोई रस नहीं आता; वैसे ही जब किसी को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है तो सांसारिक सुख उससे छूट जाता है। यह छूटना अनायास होता है, क्योंकि उस आत्मज्ञान से प्राप्त आनंद इतना तृप्तिदायक होता है कि फिर किसी शारीरिक सुख की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार भौतिकता के प्रति अलिप्तता आध्यात्मिकता की परिणति है। वस्तुओं के प्रति विमुखता आत्मज्ञान का परिणाम है। इसलिए बुद्ध, महावीर जैसे आध्यात्मिक व्यक्ति राजघराने में पैदा होकर भी संपूर्ण बाह्य समृद्धियों को तयाग देते हैं और शंकराचार्य, विवेकानंद जैसे आत्मज्ञानी भौतिक विपन्नता के बावजूद सांसारिक संपन्नता के लिए कोई प्रयास नहीं करते। यद्यपि समस्त भारतीय दर्शन जीवन को दुःखमय मानता है, परंतु यह नहीं मानता कि उस दुःख से मुक्ति भौतिक सुखों से मिल सकती है। इस मुक्ति के लिए वह मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, समाधि जैसी अवधारणाओं का प्रतिपादन करता है। इन्हीं के द्वारा व्यक्ति सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो सकता है। इन्हें ही प्राप्त कर उसे दुःखों से स्थायी छुटकारा मिल सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक बोध सदा ही भौतिक लिप्साओं की होड़ से बचाता है। वह सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने की बेहोश दौड़ में पड़ने नहीं देता। वह उतने को ही आवश्यक मानता है जितने से जीवन चल जाये। जितना जीवन को बचाये–बनाये रखने के लिए जरूरी है, उतनी ही भौतिक संपदा धार्मिक व्यक्ति के लिए जरूरी होती है। वह अतिरिक्त संग्रह पर बल

नहीं देता। इसलिए यहां त्याग के साथ भोग करने की बात कही गई है और दान, अपरिग्रह आदि पर अत्यधिक जोर दिया गया है। जब जाहिर–सी बात है कि जहां अपरिग्रह मूल्य होगा वहां विज्ञान विकसित नहीं हो सकता और उस तरह से तो कतई विकसित नहीं हो सकता जैसे पश्चिम में हुआ है। इसलिए ओशो (रजनीश) का यह कहना बिल्कुल सही है कि – "सबसे पहले विज्ञान की कुछ क्षमतायें हमारे पास आयीं, क्योंकि आज भी गणित के जो अंक हैं, वे हमारे ही हैं, सारी दुनिया में एक से लेकर नौ तक जो गणित के डिजिट हैं वे भारतीय हैं, संख्या के लिखने के जो ढंग हैं, वे भारतीय हैं। बोलने के ढंग भी भारतीय हैं। दो और टू एक ही चीज के रूपांतरण हैं। थ्री और तीन एक ही चीज के रूपांतरण हैं। लिखने के ढंग में वे भारतीय हैं, बोलने के ढंग में वे भारतीय हैं। सबसे पहले गणित का हमने हिज्जा खोजा था, लेकिन फिर गणित की ऊंचाईयां हम न खोज पाये, क्योंकि जो मूल में चाहिए थे विकास के लिए गणित के वे हमारे पास नहीं थे। .... जीवन–मूल्य हमारे पास नहीं थे ऐसे जिनसे विज्ञान विकसित होता।"[5] वस्तुतः आध्यात्मिक अनुभव से ऐसे मूल्य विकसित हो भी नहीं सकते जो भौतिकवादी हों। आत्मा के अनुसंधान में लगा व्यक्ति वस्तुओं की खोज को जीवन–मूल्य घोषित नहीं कर सकता। धार्मिक संरचना पर आधारित समाज वैज्ञानिक ताने–बाने को अभीष्ट नहीं मान सकता। इसी प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि धर्म और विज्ञान के समन्वय की जो सैद्धांतिक चर्चा की जाती है, उसे व्यावहारिक स्तर पर उतारा नहीं जा सकता। यदि उतारा जा सकता तो भारत में भी विज्ञान का विकास उसी तरह हुआ होता, जैसे पश्चिम में हुआ है।

यह बात पश्चिम में धर्म के विकास नहीं होने से भी सिद्ध होती है। पश्चिम में केवल विज्ञान ही विकसित हो सका, धर्म विकसित नहीं हुआ। यद्यपि वहां भी धर्म का ख्याल रहा, चर्च और पोप रहे, कुछ नैतिक बातें हुईं और ईश्वर की जुगाली भी की गई, परंतु वहां धर्म उस तरह से विकसित नहीं हुआ जैसे भारत में हुआ। वहां न्यूटन, एडिसन, आर्कमीडिज और आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिक पैदा हुए लेकिन बुद्ध, महावीर, पतंजलि और शंकर जैसे धार्मिक पैदा नहीं हो सके। क्यों? इसलिए कि धर्म और विज्ञान दोनों को एक साथ नहीं साधा जा सकता। बाहर की खोज में संलग्न व्यक्ति से भीतर छूट ही जाता है। परिधि पर घूमते रहने वाला केन्द्र पर नहीं पहुंच पाता। इस नहीं पहुंच पाने की वजह से ही यूरोप में भारत जैसे धर्म का विकास नहीं हो पाया। इसीलिए ओशो (रजनीश) कहते हैं– "पश्चिम ने आधी जिन्दगी स्वीकार कर ली है। उसने सिर्फ जड़ों (ओशो ने विज्ञान के लिए जड़ और धर्म के लिए फूल शब्द का प्रयोग किया है) को ही स्वीकार कर लिया है और वह जड़ों में ही रत हो गया। उसने ऊपर से ठूंठ ही काट दिया है वृक्ष का। उसने फूलों के, पत्तों को आने की संभावना ही मिटा दी है, क्योंकि उनका कहना है फूल सब

झूठ हैं, सब सपने हैं, फूल कहीं आते ही नहीं। जड़ें ही सत्य हैं। उन्हीं को पानी देना, उन्हीं की पूजा करना। तो पश्चिम जड़ों को बहुत पानी दे रहा है। जड़ें बहुत मोटी होती चली गई हैं। अब वे पृथ्वी के ऊपर भी निकलने लगी हैं। जड़ों का जाल ही फैलता चला जा रहा है; वह बहुत कुरूप है। क्योंकि उन जड़ों में फूलों के आने का उपाय न रहा, फूल पश्चिम ने अस्वीकार कर दिये।''[6]

इस अस्वीकृति के कारण ही धर्म वहां आत्मबोध तक नहीं जा सका, केवल कुछ अनुष्ठानों (Rituals) और आदेशों (Commandments) तक सिमट कर रह गया। इन अनुष्ठानों और आदेशों से वहां के लोगों को किसी आनंद की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि आनंद तो आत्मबोध से मिलता है, इसलिए उनके भीतर जिस तुष्टि का भाव पैदा होना चाहिए वह नहीं हो सका। फलतः इस तुष्टि के लिए बाहर की दौड़ लगानी पड़ी, भौतिक सुखों को तलाशना पड़ा और भीतर की रिक्तता को बाहर की वस्तुओं से भरने का प्रयास करना पड़ा। इसी प्रयास में वहां भौतिक वस्तुओं का अध्ययन किया गया, उनके गुणों की खोज की गई ताकि उन्हें जानकर अपने उपयोग में लाया जा सके। इस प्रकार आंतरिक अतृप्ति के कारण, उस अतृप्ति को बाह्य वस्तुओं से भरने के प्रयास में, वहां विज्ञान का विकास हो पाया, जैसा कि ओशो (रजनीश) कहते भी हैं– ''विकास के जीवन–मूल्य में बुनियादी बातें हैं, डिस्कंटेट होनी चाहिए।.... अतृप्ति, डिस्कंटेंट जो हो, मूल्य है, वहां फिर विज्ञान का विकास शुरू हो जाता है।''[7] लेकिन इस विकास का परिणाम यह हुआ कि भीतर छूटता ही चला गया और वहां धर्म का विकास भारत की तरह नहीं हो सका। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और विज्ञान के विकास की शर्तें भिन्न हैं और इस भिन्नता के कारण उनकी दिशायें, उनकी पद्धतियां और उनके उद्देश्य भी भिन्न हो जाते हैं। इसलिए इन दोनों के समन्वय का सैद्धांतिक अवगाहन चाहे जितना किया जाये व्यवहार में उनका पालन नहीं हो पाता। यदि हो पाता तो यूरोप में भी धर्म का विकास वैसे ही होना चाहिए था जैसे भारत में हुआ। मगर ऐसा नहीं होना इस बात का सबूत है कि धर्म और विज्ञान का समन्वय नहीं हो सकता।

(2)

यद्यपि इस समन्वय की कोशिश सदा की गई और इसमें धर्म का हमेशा नुकसान हुआ, इस हद कि उसकी सत्ता ही खारिज की जाने लगी। इसलिए इस कोशिश को सफल नहीं माना जा सकता। यह कोशिश तब सफल मानी जाती जब इससे धर्म की कोई हानि नहीं हुई होती और उसकी सत्ता अक्षुण्ण रहती। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। और यह इसलिए नहीं हुआ कि धर्म, जो कि आंतरिक अनुभव है, उसकी सत्यता बाह्य कसौटी के द्वारा नहीं जांची जा सकती। इसलिए इसमें अंधविश्वास की पूरी संभावना रहती है और यह बड़ी मात्रा में इसमें पैदा हुआ भी है, जो शोषण का आधार बना है। इस अंधविश्वास से मुक्ति के लिए विज्ञान का

सहारा लिया गया क्योंकि वह बुद्धि और तर्क पर आधारित होता है। इससे अंधविश्वास से मुक्ति मिली भी, परंतु इस मुक्ति के कारण विज्ञान को आध्यात्मिक सत्य को मापने का भी पैमाना मान लिया गया। लेकिन जिस तरह सोना जांचने की कसौटी पर फूल की सत्यता नहीं जांची जा सकती उसी तरह विज्ञान की कसौटी पर धर्म भी नहीं जांचा जा सकता, क्योंकि धर्म एक आध्यात्मिक बोध है और विज्ञान भौतिक वस्तुओं को जांचने का पैमाना है। मगर यह जांचने की कोशिश की गई और इस कोशिश में जब धार्मिक सत्य पकड़ में नहीं आया तो उसे झूठ की श्रेणी में रख दिया गया। ईश्वर के मरने की घोषणा अथवा तत्त्वमीमांसा के निरसन का प्रयास इसी का परिणाम है। और यह प्रकारान्तर से धर्म को ध्वस्त करने की ही योजना है।

यों तो इस ध्वंस की योजना को विकास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण माना गया लेकिन इसकी वजह से प्रेम, करुणा, दया, सहिष्णुता, सहयोग और सदाचार आदि सारे मानवीय मूल्य तिरोहित हो गये, क्योंकि ये मूल्य धर्म से ही विकसित हुये हैं। इसका परिणाम हुआ कि आदमी एक यंत्र में तब्दील हो गया। उसकी संवेदना मर गई, चेतना लुप्त हो गई, आत्मा का ख्याल मिट गया और वह अपने भीतर जाने की प्रक्रिया से कट गया। फलतः उसका आत्मबोध नष्ट हो गया और वह आध्यात्मिक सत्यों को कल्पित भ्रम मानने लगा। उसके लिए सत्य केवल भौतिक संसार रह गया और इसी संसार में प्राप्त होने वाले दैहिक सुख उसके अभीष्ट हो गये। इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए विज्ञान ने यंत्रों का इजाद किया, क्योंकि यंत्रों के द्वारा ही दैहिक सुख के लिए भौतिक संपदाओं का बेतहाशा उत्पादन किया जा सकता है और लोगों को इनके अनियंत्रित भोग के लिए सम्मोहित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, ये यंत्र अपनी प्रकृति के कारण शोषण का संजाल फैलाने और दूसरे को गुलाम बनाने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। आज जिन मुल्कों को विकसित और ताकतवर कहा जाता है, वे ही मुल्क हैं, जिन्होंने यंत्रों के द्वारा अकूत संपदा पैदा की है और यंत्रों की मदद से ही दूसरे मुल्कों पर प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष ढंग से आधिपत्य जमाय हुये हैं।

इसीलिए गांधी ने यंत्रों की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है– ''आज तो करोड़ों की गरदन पर कुछ लोगों के सवार हो जाने में यंत्र मददगार हो रहे हैं। यंत्रों के उपयोग के पीछे जो प्रेरक कारण है वह श्रम की बचत नहीं है, बल्कि धन का लोभ है।..... यंत्र तो सांप का ऐसा बिल है, जिसमें एक नहीं बल्कि सैकड़ों सांप होते हैं। एक के पीछे दूसरा लगा ही रहता है।..... यंत्र का गुण तो मुझे एक भी याद नहीं आता, जबकि उसके अवगुणों पर मैं पूरी किताब लिख सकता हूं।''[8] इसी यंत्र के बिल पर प्रौद्योगिकी का भी विकास हुआ हे, जिसके दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं– ''प्रौद्यागिकी (टेक्नालाजी) की बदौलत आर्थिक

संघटना की ऐसी नयी प्रणालियां निकल आयी हैं जिनमें व्यक्ति की अपनी असाधारणता तथा दूसरों के साथ अपनी एकता की भावना का लोप होता जा रहा है। हमारा समाज एक विशाल संघटन का अंग बनता जा रहा है और व्यक्तिगत संबंध उसमें खोते जा रहे हैं। परिवार, ग्राम्य–समूह, स्थानीय संस्था, मंदिर, चर्च या मस्जिद का प्रभाव मिटता जा रहा है, लोग अशांत, गतिमान हैं और उन्हें क्वचित् ही शांति मिल पाती है। प्रौद्योगिकी की प्रगति ने जो सुविधायें हमारे आगे रख दी हैं उनमें जो डूबे हुए हैं वे आत्मनियंत्रण के प्रयत्न में कठिनाई अनुभव करते हैं। हम भौतिक स्तर पर सुखपूर्ण जीवन बिताने के साधनों का जितना ही इस्तेमाल करते हैं उतना ही अपने–आपसे दूर पड़ते जाते हैं।''[9]

इस दूर पड़ते जाने की वजह से ही भौतिकवादी विकास की उस एकांगी अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया है, जिसके अनुसार विकास केवल भौतिक और बाहरी होता है, आंतरिक और आध्यात्मिक नहीं। विकास की इस अवधारणा ने एक ऐसी उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है, जो केवल दैहिक भोग को ही जीवन का एकमात्र मूल्य मानती है। विजय कुमार के शब्दों में– ''संस्कृति का अर्थ अब केवल आनंद और आमोद–प्रमोद है। वस्तुओं के उपभोग की जीवन–शैली ने हमारे समय में एक असामान्य किस्म के सुखवाद को फैलाया है।''[10] विज्ञान न केवल इस सुखवाद को जन्म देने का कारक रहा है बल्कि इसकी जड़ों को गहरे जमाने में भी उसकी भूमिका प्रबल रही है। इसी से विकसित प्रौद्यागिकी के सहारे सुखवाद के प्रचार–प्रसार के लिए विज्ञापन का एक ऐसा मोहक तंत्र फैलाया गया है, जिसमें उलझने के बाद आदमी के सामने दैहिक भोग के सिवा और किसी आत्मिक उत्थान का कोई विकल्प नहीं बचता। यह सही मायने में विज्ञान और प्रौद्योगिकी द्वारा व्यक्ति के शोषण के लिए निर्मित सूक्ष्म संजाल है, जिसमें उलझी मानवता गहरे संत्रास और विषाद से गुजर रही है और उसे इससे मुक्त होने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा है। इसीलिए सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं– ''बीसवीं सदी जिसे हम विज्ञान की सदी कहते हैं, दरअसल उपभोक्तावादी विक्षिप्तता की सदी है। इसी से चमत्कृत करने वाली इसकी चकाचौंध दिखाई देती है जो वर्तमान समाज के अस्तित्व के लिए संकट का भी कारण है।''[11] राधाकृष्णन् भी इस संकट को स्वीकारते हुए कहते हैं– ''एक प्रौद्योगिक यांत्रिक सभ्यता में, एक सामूहिक समाज में व्यक्ति एक व्यक्तित्वहीन, निजी प्रेरणाओं से रहित इकाई–मात्र बनकर रह जाता है। वस्तुएं जीवन का नियंत्रण करती हैं। सांख्यिक औसतों द्वारा गुणात्मक, विशेषतात्मक मानव–प्राणियों का स्थान छीन लिया जाता है।.... आधुनिक समाज का प्रौद्योगिक संघटन, जिसमें व्यक्ति का महत्व बहुत ही कम हो गया है, एक मौलिक संशय को बढ़ाता है तथा मानवात्मा को अस्वीकार करने का प्रयत्न करता है।''[12]

(3)

इस प्रकार इस पड़ताल से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और विज्ञान का व्यावहारिक समन्वय संभव नहीं हो सकता, क्योंकि यह समन्वय अथवा समन्वय का प्रयास हमेशा ही एक पक्ष के लिए उसके अस्तित्व को मिटा देने की हद तक, हानिकारक रहा है। इसी वजह से जहां धार्मिक विकास हुआ, जैसे भारत में, वहां वैज्ञानिक विकास नहीं हो पाया और जहां वैज्ञानिक विकास हुआ, जैसे यूरोप में, वहां धार्मिक विकास नहीं हो पाया। ऐतिहासिक तथ्य और वर्तमान परिदृश्य इस बात की गवाही देते हैं। इसलिए इसे स्वीकारने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि सैद्धांतिक स्तर पर इन दोनों के समन्वय की चाहे जितनी परिकल्पना की जाये व्यावहारिक स्तर पर इसका प्रतिफलन संभव नहीं है। अतः इस कथन के आलोक में कि– ''जो व्यक्ति यह सोचता है कि विज्ञान और धर्म में कोई वास्तविक विरोध है उसे या तो विज्ञान का बहुत कम ज्ञान है या वह धर्म से बहुत अनजान है।'' – अपने अज्ञानी समझे जाने का खतरा उठाकर भी पूरे साहस और ईमानदारी के साथ इस विरोध को उजागर करना चाहिए तथा इस विरोध को दूर कर दोनों के समन्वय करने की दिशा मे ंकिये गये प्रयासों की विफलता को रेखांकित करना चाहिए।

इस रेखांकन से उन त्रुटियों को समझने में सुविधा होगी जो विफलता के कारण हैं। यदि उन त्रुटियों को समझ कर उन्हें दूर कर लिया जाये तो संभव है यह विफलता सफलता में बदल जाये। इस बदलाव के लिए सबसे जरूरी और प्रमुख शर्त दोनों को एक हद में रहने की है और इस हद में रहकर ही एक–दूसरे के दोषों को दूर करने की है। अब जैसे कि धर्म में जो अंधविश्वास है, कुरीतियां हैं, कर्मकांडों का जंजाल है और पंडित–पुरोहितों द्वारा भोली–भाली जनता को ठगने का जो सिलसिला है, विज्ञान उन पर प्रहार करे और उन्हें दूर करने का प्रयास करे। विज्ञान यह कर सकता है क्योंकि वह बुद्धि और विश्लेषण पर आधारित है, कारण–कार्य नियम से जुड़ा हुआ है। इसलिए वह किसी के कहे को यूंही नहीं मान लेता, उस पर संदेह करता है, उसकी परीक्षा करता है, तर्क और प्रयोग की कसौटी पर जांचता–परखता है और इस जांच–पड़ताल के बाद जो सत्य बचा रह जाता है, उसे ही स्वीकार करता है। इस प्रकार विज्ञान धर्म के नाम पर चलने वाले पाखंड का पर्दाफाश कर सकता है, उससे जुड़े अंधविश्वास को दूर कर सकता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप की पहचान और उसके प्रकटीकरण के लिए यह जरूरी है।

धर्म केवल कर्मकांड की पुनरावृत्ति नहीं है, न रूढ़ियों का अंधानुकरण है। वह धर्मशास्त्रों का तोता–रटंत भी नहीं है, न धर्मस्थलों का बेहोश दौरा है। वह धर्म के ठेकेदारों के कथन पर आंख मूंद कर किया हुआ भरोसा भी नहीं है, न धार्मिक दीखने भर के लिए ऊपर से ओढ़ा गया कोई फरेबी आवरण है। धर्म तो आत्मबोध है, स्वयं का साक्षात्कार है, परमसत्ता के साथ तादात्म्य है और चरमसत्य का

स्वानुभव है। जब कोई इस बोध को उपलब्ध होता है तो उसका पूरा अस्तित्व परिवर्तित हो जाता है। फिर उसका आचरण भी, क्योंकि आचरण अस्तित्व से ही निःसृत होता है, वैसा नहीं रह जाता जैसा बोध के पहले था। अब उसके हर क्रिया–कलाप से आध्यात्मिकता प्रकट होने लगती है। यह ठीक वैसे ही होता है जैसे किसी अंधे आदमी को आंख मिल जाये तो उसकी पूरी जीवन–चर्या बदल जाती है। इसलिए राधाकृष्णन् कहते हैं– "अपने सर्वोत्तम रूप में, धर्म विश्वास की अपेक्षा आचरण पर अधिक बल देता है। निष्ठा की परिभाषा करने तक ही धर्म की सीमा नहीं है। इसके अंतर्गत वैसा जीवन–यापन करना भी आता है। .... यदि धर्म, जीवन्मय और व्यापक नहीं है, यदि वह मानव–जीवन के प्रत्येक रूप में प्रवेश नहीं करता और प्रत्येक मानव–कार्य को प्रभावित नहीं करता तो वह केवल बाह्याडंबर–मात्र है, यथार्थ या सत्य नहीं है।"[13] इस आडंबर और असत्य को विज्ञान दूर कर सकता है, इसलिए उसे ऐसा ही करना चाहिए और चूंकि विज्ञान इतना ही कर सकता है, इसलिए उसे इतना ही करना चाहिए। इससे ज्यादा वह धर्म के क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता इसलिए उसे इससे ज्यादा कुछ करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। न तो उसे आत्मा, ईश्वर, आदि के अस्तित्व को खारिज करना चाहिए न आध्यात्मिक सत्य अथवा आत्मसाक्षात्कार को असत्य कहना चाहिए क्योंकि उसके पैमाने पर इनकी सत्यता प्रमाणित नहीं हो सकती।

इसी तरह धर्म को भी विज्ञान को हिकारत की नजर से नहीं देखना चाहिए। उसका काम विज्ञान का नियंत्रण और उसका मार्ग–दर्शन करना है। विज्ञान आत्मा, ईश्वर, मोक्ष और अध्यात्म आदि को खारिज करके निरंकुश हो गया है। इसी निरंकुशता के कारण उसने पूरी दुनिया को कई–कई बार नष्ट करने लायक हथियारों का जखीरा पौदा किया है और शोषण को मजबूत करने वाले नये–नये यंत्र विकसित किये हैं। उसने अकूत संपदा के उत्पादन के लिए प्रौद्योगिकी का अनियंत्रित इस्तेमाल करते हुए प्राकृतिक संसाधनों का इस बेतहाशा से दोहन किया है कि समूची धरती को नष्ट कर देने वाला पर्यावरण का सर्वग्रासी संकट पैदा हो गया है। उसने अपने आविष्कारों के बल पर शिक्षा का पूरा स्वरूप बदल दिया है और सफलता की पूरी परिभाषा बदल दी है। अब शिक्षित होने का अर्थ वैचारिक होना नहीं, मात्र तकनीशियन होना है और सफल होने का अर्थ अपार धन का स्वामी होकर उसके बूते औरों पर वर्चस्व जमाना है। कुल मिलाकर इस विज्ञान ने एक ऐसे मनुष्य को जन्म दिया है जो भोग में आकंठ डूबा हुआ है और प्रेम, करुणा, सहयोग, सहिष्णुता आदि तमाम मानवीय मूल्य जिसके लिए बेमानी हो गये हैं, जो अहिंसा, सदाचार, परोपकार ओर अपरिग्रह आदि को किसी पिछड़े जमाने का बकवास मानता है तथा त्याग, उदारता, क्षमा और सेवा की जुगाली भर करता है, उन्हें जीना जरूरी नहीं समझता। इसलिए राजीव वोरा का यह कथन बिल्कुल सही

है कि– "अहिंसा, प्रेम आदि आत्मा के गुण और लक्षण हैं– मनुष्य की आंतरिक, आत्मिक आवश्यकतायें हैं। जिस आधुनिक 'वैज्ञानिक' दृष्टि में आत्मा के लिए जगह ही न हो, वहां अहिंसा का विकास कैसे हो सकता है? ज्ञान–विज्ञान की जिस खोज में मानव की आत्म–चेतना, आत्मा की साक्षी न बन सके, जिस "ज्ञान–विज्ञान' की खोज में आत्मा की साक्ष्य, आत्मा की आवाज का कोई स्थान ही न हो वहां सत्य की मान्यता का तो कोई सवाल ही नहीं है।"[14]

यह सब विज्ञान के निरंकुश होने के कारण हुआ है। इस निरंकुशता की वजह से ही मनुष्य की दुष्पूर इच्छाओं को बेलगाम दौड़ने की छूट मिल गयी है और इस दौड़ को न्यायोचित ठहराने का तर्क भी मिल गया है। मगर यह अपने लक्ष्य से विचलित हो जाना है, सही रास्ते से भटक जाना है। यह बेलगाम दौड़ किसी भी तरह से मनुष्यता के हित में नहीं है, बल्कि पूरी मानवता के लिए विनाशकारी है। इस पर अंकुश लगाया जाना चाहिए और यह अंकुश धर्म लगा सकता है। या. मसीह इस संबंध में साफ शब्दों में कहते हैं कि– "बिना धार्मिक मूल्यों के विज्ञान सृष्टि–संहारक बन कर समस्त मानव–जाति का अभिशाप हो जा सकता है। ..... इसलिए विज्ञान के दुरुपयोग से बचने के लिए धार्मिक विचारों के प्रचार–प्रसार की आवश्यकता हो जाती है। .... अभी तक धर्म को छोड़कर अन्य कोई सांस्कृतिक व्यवस्था ऐसी नहीं हुई है जिसके आधार पर मानव अपनी पाशविक वृत्तियों का नियंत्रण कर सकता है।"[15] इस नियंत्रण के द्वारा ही यह संभव हो सकता है कि विज्ञान वैसी खोज न करे जो मानवता के लिए विनाशकारी हो तथा जिससे संपूर्ण सृष्टि के नाश होने का खतरा हो। जैसे– क्लोनिंग की खोज, बिग बेंग की खोज, संहारक यंत्रों की खोज अथवा शोषण की प्रविधियों की खोज आदि। इतना ही नहीं, इस नियंत्रण के द्वारा ए.सी., फ्रिज आदि वैज्ञानिक संसाधनों से भी परहेज किया जा सकता है जिनका अत्यधिक उपयोग नुकसानदेह है।

यद्यपि इस नियंत्रण के कारण यह सवाल उठाया जा सकता है कि इससे विज्ञान की स्वतंत्रता बाधित होती है, परंतु चूंकि स्वतंत्रता जिम्मेवारी से अवियोज्य रूप से जुड़ी होती है, इसलिए जिम्मेवारी को दरकिनार कर, की जाने वाली स्वतंत्रता की कोई भी बात, असंगत और निरर्थक हो जाती है। गैरजिम्मेवार स्वतंत्रता अनिवार्यतः अकल्याणकारी होती है। वस्तुतः वह स्वतंत्रता होती ही नहीं, सिर्फ उच्छृंखलता होती है जो अनिष्टकारक है। इसलिए विज्ञान को भी अपनी जिम्मेवारी सुनिश्चित करनी पड़ेगी, अपने दायित्व का निर्वहन करना होगा। धर्म इस दिशा में उसकी मदद कर सकता है और उसे यह करना चाहिए। धर्म की मदद से जब विज्ञान को अपने उत्तरदायित्व का बोध हो जायेगा तब वह स्वयं अपनी हद बांध लेगा। विज्ञान का यह हद बांधा जाना जरूरी है, क्योंकि इस हद के बगैर धर्म और विज्ञान का समन्वय नहीं हो सकता। इस समन्वय की सैद्धांतिक संभावना को

व्यावहारिक बनाने के लिए यह हद आवश्यक है, न केवल विज्ञान की बल्कि धर्म की भी। जब दोनों अपनी हदों में रहकर अपने दायित्वों का निर्वाह करेंगे तभी व्यावहारिक स्तर पर दोनों का समन्वय संभव हो पायेगा और इस समन्वय के आधार पर ही भौतिकता तथा आध्यात्मिकता दोनों को एक साथ समाहित करने वाले संतुलित जीवन और सर्वांगीण समाज का सपना साकार हो पायेगा।

दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

संदर्भ

1. *स्वामी विवेकानन्द; रामधारी सिंह 'दिनकर' की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ.–510, लोकभारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–1; 1998 से उद्धृत।*
2. *भगवान श्री रजनीश; प्रेम और विवाह, पृ.–52; सुबोध पॉकेट बुक्स, दरियागंज, दिल्ली–6; 1974.*
3. *डॉ. राधाकृष्णन्, 'भारतीय दर्शन (प्रथम खंड)', (अनुवादकः नन्द किशोर गोविल), पृ.–23–25, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; 1986.*
4. *वही, पृ.–54.*
5. *भगवान श्री रजनीश; देख कबीरा रोया, पृ.–445; रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड, 17, कोरेगांव पार्क, पूना– 41001 (महाराष्ट्र); 1979.*
6. *भगवान श्री रजनीश; प्रेम और विवाह, पृ.–50.*
7. *भगवान श्री नजरीश; देख कबीरा रोया, पृ.–445.*
8. *गांधी जी; हिन्द स्वराज्य (अनुवादकः अमृतलाल ठाकोरदास नाणवटी), पृ.–14, 78–79, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14, 2005*
9. *डॉ. राधाकृष्णन्, सत्य की ओर, पृ.–22*
10. *विजय कुमार; 'अंधेरे समय में विचार', पृ.–105: संवाद प्रकाशन, आई–499, शास्त्रीनगर, मेरठ–25004 (उ.प्र.), 2006*
11. *सच्चिदानंद सिन्हा; ''इक्कीसवीं सदी का समाजः संभावना और चुनौती'', 'वागर्थ' अंक–75, सितम्बर 2001 (इक्कीसवीं सदी का भविष्य विशेषांक), पृ.–75, भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता–700017.*
12. *डॉ. राधाकृष्णन्, सत्य की ओर, पृ.–23.*
13. *उपरिवत्, पृ.–27.*
14. *राजीव वोरा; ''इक्कीसवीं शती में गांधीवाद का भविष्य'', 'वागर्थ', अंक–75, सितम्बर 2001, पृ–155.*
15. *या. मसीह, 'सामान्य धर्मदर्शन', पृ.–48; मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–110007, 1985.*

विज्ञान और आध्यात्मिकता

डॉ. रंजन कुमार सिंह

साधारणतया यह माना जाता है कि विज्ञान और अध्यात्म दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं और उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वास्तव में अध्यात्म विज्ञान की जननी है और विज्ञान एवं अध्यात्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति–सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना संभव है? इस प्रश्न का– हमारे युग के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न का– स्पष्ट एवं सुदृढ़ उत्तर है, 'हां'। वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं आध्यात्मिक दोनों का एक साथ होना खूब संभव है। यह संभव ही नहीं, वांछनीय भी है। यही नहीं, इसकी तत्काल आवश्यकता है। आज मानव–जाति जिन जबरदस्त चुनौतियों का सामना कर रही है उनमें किसी व्यक्ति का वैज्ञानिक प्रवृत्ति–सम्पन्न और आध्यात्मिक दोनों होना वास्तव में एक विशिष्ट चुनौती है। यदि हम अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन में वैज्ञानिक–चेतना सम्पन्न एवं आध्यात्मिक एक साथ न हो पाए तो मानव–जाति का अर्थपूर्ण अस्तित्व ही संशय का विषय हो जाएगा।

मानव–जाति की नियति अब किन्हीं आत्मविस्मृत विचारकों के चिंतन का विषय मात्र नहीं रह गयी है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि एवं चिन्ता का विषय हो गयी है। मानव–जाति पर जो घटता है उसका प्रभाव आप और मुझ पर पड़ता है। आपके तथा मेरे विचारों एवं क्रिया–कलापों से मानवजाति प्रभावित होती है, भले ही हम सामान्य स्त्री–पुरुष ही क्यों न हों। सही मायने में वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न और साथ ही आध्यात्मिक होने पर हम मानव–जाति के वर्तमान एवं भविष्य को अर्थपूर्ण एवं समृद्ध बना सकेंगे।

वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अनुशासनों में अंतर एवं उनके निकट आने की संभावनाएं :

वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक नियमावलियों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। वैज्ञानिक होने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि एवं वैज्ञानिक पद्धति का पालन पर्याप्त है। अनैतिक होने हुए भी वैज्ञानिक होना तात्विक दृष्टि से संभव है। लेकिन अनैतिकता के साथ आध्यात्मिक होना असम्भव है। वैज्ञानिक को अपना कार्य करने के लिए मन

को वस्तु–विषय से अवगत कराना होता है, जबकि आध्यात्मिक व्यक्ति को अपने समग्र व्यक्तित्व का परिवर्तन करना होता है। यही महान् अन्तर है।

इस अन्तर का कारण यह है कि विज्ञान का कार्य–क्षेत्र देश, काल एवं कार्य–कारण के अन्तर्गत है जबकि धर्म का सम्बन्ध इनके परे की वस्तु से है। देश, काल एवं कार्य–कारण के परे का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें इनकी सीमाओं का अतिक्रमण करना होगा। यह कैसे होगा? यहीं नैतिकता का महत्व है, जिसका अर्थ मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करना है। वैज्ञानिक गवेषणाओं के लिए यह अतिक्रमण अनिवार्य नहीं है। फिर भी समान योग्यता एवं परिस्थितियों में अधिक संयमी वैज्ञानिक श्रेष्ठतर वैज्ञानिक निश्चय ही सिद्ध होगा।

नैतिकता में प्रतिष्ठित व्यक्ति में एक बौद्धिक क्षमता का विकास होता है जो उसे देश–काल एवं कार्य–कारण के परे की वस्तुओं को जानने एवं देखने में समर्थ बनाती है। योगशास्त्र में अतीन्द्रिय जगत् का ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणाली का सुस्पष्ट वर्णन है। एक दक्ष वैज्ञानिक भी नैतिकता में प्रतिष्ठित हो देशकालातीत जगत् के रहस्यों को भेद सकता है। अतीन्द्रिय जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के बाद देश–काल एवं कार्य–कारण–बद्ध जगत् का अध्ययन करने पर एक वैज्ञानिक ऋषि यह अनुभव करेगा कि अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना दृश्यमान जगत् को पूरी तरह समझना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार घर के बाहर उस घर का महत्व आंकना जिसमें हम रहते हैं।

विज्ञान वर्णनात्मक है और अन्तिम या चरम व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। धर्म रहस्यवादी तथा व्याख्या–परक है और इन्द्रिय–गम्य जगत् के परे की अनुभूतियों की ओर लक्ष्य करता है। विज्ञान एवं धर्म के कार्यक्षेत्र पृथक् होने के कारण दोनों में संघर्ष नहीं होना चाहिए। धर्म और विज्ञान के बीच के समस्त झगड़े परिहार्य कारणों से उत्पन्न होते हैं,[1] जैसे –

(क) धार्मिक आस्थाओं की कुछ अभिव्यक्तियों का विज्ञान के तथ्यों से विरोध।
(ख) धार्मिक भावना और वैज्ञानिक सिद्धान्त–विशेष का संघर्ष।
(ग) एक ही कथन में विज्ञान और धर्म की मान्यताओं को मिलाने का प्रयत्न, या
(घ) मनोवैज्ञानिक गवेषणा के धार्मिक अनुभूतियों पर घटाने का प्रयत्न।

धर्म और विज्ञान के बीच होने वाले सभी संघर्षों का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि उनकी उत्पत्ति गलतफहमी तथा दो अतुलनीय वस्तुओं के व्यर्थ के विरोध के कारण होती है। धर्म और विज्ञान के संघर्ष को रोकने का एक मात्र उपाय सही अर्थों में वैज्ञानिक और सही अर्थों में आध्यात्मिक होना है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से यथार्थतः वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक एक साथ होना पूर्णतः सम्भव है। वस्तुतः जगत् के पूर्णतर ज्ञान के लिए ज्ञान की इन दो शाखाओं का व्यक्तिगत जीवन में अधिकाधिक एवं निकटतम आदान–प्रदान एवं सहयोग आवश्यक है।

एक सच्चा वैज्ञानिक–मस्तिष्क किसी भी स्तर के तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के सभी प्रमाणित सत्यों को उसको स्वीकार करना चाहिए। आध्यात्मिक अनुभूतियों का विशाल भण्डार वैज्ञानिक मन के लिए एक चुनौती है क्योंकि इसका अध्ययन किए बिना सत्य की सम्पूर्ण धारणा नहीं की जा सकती। दूसरी ओर सच्चा आध्यात्मिक अन्वेषक अपने मन को किसी प्रकार के सत्य के प्रति बन्द नहीं रख सकता, विशेषकर जब वह विज्ञान जैसे प्रमाणित स्रोत से प्राप्त हुआ है। अतः एक ही जीवन में पूर्ण विकसित विज्ञान एवं पूर्ण विकसित धर्म के प्रभावशील आदान–प्रदान के फलस्वरूप विज्ञान ज्ञान प्रदान करेगा और धर्म जीवन में परिवर्तन लायेगा। विज्ञान के अध्ययन से बुद्धि तीक्ष्ण होगी और आध्यात्मिक साधना से चित्त शुद्ध होगा।

जिस सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर कल्पना का विषय मात्र न होकर चरम सत्य एवं अनुभूति का विषय है, उसके लिए विज्ञान द्वारा समय–समय पर प्रमाणित अथवा अप्रमाणित किये जा रहे तथ्य भगवान् की महिमा के अधिकाधिक प्रकाशक ही होते हैं। उसके लिए विज्ञान एक प्रबल शत्रु के हाथ का अस्त्र, जैसा कुछ तथाकथित धार्मिक व्यक्ति समझते हैं; न होकर एक सह–पुजारी का रोचक एवं जटिल क्रियाकलाप है। विज्ञान को असीम के प्रति ससीम की एक प्रकार की प्रतिक्रिया और धर्म को दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। कुछ प्रयास द्वारा एक ही व्यक्ति इन दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं का विकास कर सकता है।

भारत में शायद ही कभी यह सुनने में आया हो कि किसी वैज्ञानिक ने अपने को नास्तिक घोषित कर दिया है। ऐसे अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हो गये हैं जो गहरी आध्यात्मिकता से सम्पन्न भी थे। और ऐसे न जाने कितने अज्ञात भी रहे हैं।

प्रमुख स्मरणीय बात यह है कि इस जगत् में खुली हुई तीक्ष्ण आंखों से देखने लायक तथा बंद स्पष्ट दृष्टि से भी देखने लायक अनेक वस्तुएं हैं। बुद्धि तथा इन्द्रियों की सहायता से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है, लेकिन आध्यात्मिक ज्ञान की बात अलग है। उपनिषदों में कहा गया है[2] –

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च च विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्।।

अर्थात् ''जब पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन और बुद्धि शान्त हो जाते हैं, एवं बुद्धि कार्य नहीं करती वह परम गति कहलाती है।''

यही कारण है कि वैज्ञानिक ज्ञान में आध्यात्मिक ज्ञान अन्तर्निहित नहीं है। इस कथन का यह अर्थ नहीं कि ये दो प्रकार की साधनाएं एक दूसरे की विरोधी या एक दूसरे से असंबद्ध हैं। प्रयोगशाला में सूक्ष्म गवेषणाएं एवं घर पर गहरा ध्यान, विवेक–विचार एवं आत्म–निरीक्षण, एक ही व्यक्ति इन दोनों को आसानी से कर सकता है।

एक दिशा में प्रशिक्षित मन दूसरी दिशा में भी सहायक हो सकता है। अपने तथा जगत् के पूर्णतर ज्ञान के लिए हम सभी को इन दोनों प्रकार की साधनाओं का जीवन में अभ्यास करना चाहिए। इस सत्य के महत्व को पूरी तरह हृदयंगम कर अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका कुछ न कुछ अभ्यास करने पर ही हम विज्ञान द्वारा अत्यधिक प्रभावित वर्तमान काल—प्रवाह में आवश्यक परिवर्तन ला सकते हैं।

डॉ. जगदीश चन्द्र बोस जीवन भर एक सच्चे वैज्ञानिक रहे। फिर भी अपने वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के साथ—साथ सारे जीवन आध्यात्मिक संवेदनशीलता की अभिवृद्धि करना भी उनके लिए संभव हुआ था। वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन में यह प्रमाणित कर दिया कि वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक होने में कोई भेद नहीं है। कलकत्ता में 30 नवम्बर सन् 1917 ई. को बोस इन्स्टीट्यूट के उत्सर्गीकरण समारोह में दिये गये भाषण में अपने जीवन के सार संक्षेप का वक्तव्य देते हुए जगदीश चन्द्र बोस ने स्थायी महत्व की कुछ बातें कहीं। उनके भाषण के कुछ अंशों को यहां उद्धृत किया जा रहा है, जो यह बताते हैं कि उनके लिए वैज्ञानिक ही आध्यात्मिक और आध्यात्मिक ही वैज्ञानिक था— "अपने अनुसन्धानों में मैं अनजाने ही भौतिकशास्त्र एवं शरीर—क्रियाशास्त्र के सीमा—क्षेत्र तक पहुंच गया, तथा चेतन एवं अचेतन की सीमा—रेखाओं के विलीन होने एवं उनके बीच सम्बन्ध के बिन्दुओं को उभरते देख आश्चर्यचकित हो गया। जड़ पदार्थ नितांत जड़ नहीं था। वह भी अपने पर हो रहे असंख्य शाक्तियों के प्रभाव से प्रकम्पित हो रहा था। एक सामान्य प्रतिक्रिया धातुओं, पौधों एवं पशुओं को एक ही नियम के अन्तर्गत ला रही थी। उन सभी में मूलतः एक सी श्रान्ति, दबाव, पुनःस्फूर्ति की सम्भावना तथा मृत्यु से संबंधित स्थायी प्रतिक्रियाहीनता की घटनाएं पायी गयीं। इस महान् सामान्यीकरण से मैं आश्चर्यचकित रह गया और बड़ी आशा के साथ मैंने प्रयोगों की सहायता से प्रमाणित करते हुए, अपने परिणामों को रॉयल सोसाइटी के समक्ष प्रस्तुत किया। लेकिन शरीर—क्रियाशास्त्रियों ने मेरे भाषण के बाद मुझे उनके क्षेत्र में प्रवेश करने के बदले भौतिकशाास्त्र की गवेषणाओं तक ही अपने को सीमित रखने का सुझाव दिया, जिसमें मेरी सफलता सुनिश्चित थी। पश्चिमी देशों में आधुनिक विज्ञान के अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण इस मूलभूत सत्य के दृष्टि से अगोचर होने का भय पैदा हो गया है कि सत्य तो, विज्ञान तो एक ही हो सकता है, जो ज्ञान की सभी शाखाओं को अपने में समाविष्ट करता है। प्रकृति की घटनाएं कितनी असम्बद्ध लगती हैं! क्या प्रकृति वह ब्रह्माण्ड है, जिसमें किसी दिन मानव—मन नियम, श्रृंखला एवं तारतम्य के समरस प्रवाह का अनुभव करेगा? भारतीय मन स्वभावतः एकत्व के भाव का अनुभव करने तथा दृश्यमान जगत् के पीछे एक सुसम्बद्ध ब्रह्माण्ड को देखने में सक्षम है। इस वैचारिक झुकाव ने मुझे अनजाने ही विभिन्न विज्ञानों की सीमा—रेखाओं तक पहुंचा दिया। चेतन प्राणियों तथा उनकी नाना क्रियाओं, वृद्धि, गति और संवेदन तक के

अनुसन्धान की ओर परिचालित किया। विगत तेईस वर्षों से अनुसन्धान की विभिन्न दिशाओं का सिंहावलोकन करने पर अब मैं उनमें एक स्वाभाविक क्रम पाता हूं।"

विज्ञान एवं धर्म के आदान–प्रदान की आवश्यकता पर आइन्स्टीन का मत:

विज्ञान में अधिकारवादी बनने अथवा उसकी सत्यनिष्ठा के ह्रास के लक्षण किसी भी युग में दिखाई न देने पर भी काल–प्रवाह पर विज्ञान का अत्यधिक प्रभाव मानव–जाति के हित में नहीं होगा। इसका स्पष्टीकरण अल्बर्ट आइन्स्टीन की पुस्तक *'Out of my later years'* (Philosophical library, New York, 1950) में मिलता है। इस पुस्तक में हमारे युग के ये महापुरुष विज्ञान और धर्म के विषय में कुछ ज्ञानोद्दीपक बातें कहते हैं। वे कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रणाली, इससे अधिक और कुछ नहीं सिखाती कि एक तथ्य दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं तथा एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं। अवश्य वे दावा करते हैं कि वस्तुनिष्ठ ज्ञान मानव द्वारा प्राप्य चरम ज्ञान है। और यह समझा भी जा सकता है और आप मुझसे यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि मैं इस दिशा में मानव के साहसिक प्रयास एवं उपलब्धियों को छोटा करूं। वे आगे कहते हैं, "फिर भी यह भी उतना ही स्पष्ट है कि 'जो है', का ज्ञान, 'होना चाहिए' के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त नहीं करता।"

आइन्स्टीन की समीक्षा की दिशा यह है कि यह पूरी तरह संभव है कि हम एक घटना के विषय में "क्या है" की स्पष्ट धारणा कर पायें। पर इससे हम यह निर्णय करने में समर्थ नहीं होंगे कि मानव के प्रयासों का लक्ष्य क्या होना चाहिए। वस्तुनिष्ठ ज्ञान निश्चय ही हमें कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली उपकरण प्रदान करता है। लेकिन वस्तुनिष्ठ ज्ञान क्या स्वतः उन उद्देश्यों की ओर बढ़ने की प्रेरणा अथवा लक्ष्य का संकेत प्रदान कर सकता है? आइन्स्टीन इसका असंदिग्ध उत्तर देते हुए कहते हैं– 'नहीं', यह किसी अन्य स्रोत से प्राप्त होना चाहिए। वह स्रोत कौन सा है? आइन्स्टीन के अनुसार वह है धर्म। वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि हमारा अस्तित्व एवं क्रियाकलाप, लक्ष्य एवं तदनुरूप मूल्यों के निर्धारण करने पर ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं। उनका विश्वास था कि धर्म एवं विज्ञान के बीच क्रियात्मक वार्ता, आपसी समझ एवं आदान–प्रदान होना चाहिए। वे निम्न सूक्ति के द्वारा अपने मत का निचोड़ कह डालते हैं– "धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है, विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।"[3]

यह संभव है कि कुछ लोग इस उक्ति से पूरी तरह सहमत न हों। इसके बदले, इस बात की ओर इंगित करते हुए कि धर्म दृष्टि एवं विज्ञान शक्ति प्रदान करता है, वे कह सकते हैं कि 'धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है, तथा विज्ञान के बिना धर्म लंगड़ा है।' यह बात छोड़ भी दें तो भी आइन्स्टीन का यह स्पष्ट मत था कि धर्म और विज्ञान के बीच गहरे आदान–प्रदान का संबंध एवं परस्पर–निर्भरता होनी चाहिए।

यह स्पष्ट है कि विज्ञान लक्ष्य–निर्धारण एवं उसे प्राप्त करने की प्रेरणा हम में नहीं जगा सकता। इस बात को बट्रेण्ड रसेल स्पष्ट रूप से कहते हैं– "विज्ञान यह बता सकता है कि अमुक लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय। लेकिन वह यह नहीं बता सकता कि उसे कौन–सा लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।"[4]

विज्ञान एक बुलडोजर बना सकता है, लेकिन वह उसके चालक के भावनाओं को प्रशिक्षित नहीं कर सकता, जिसे कि वह घुटनों के बल चलते एक बच्चे के सामने उसे रोक दे और उसके ऊपर उसे न चला दे। दूसरी ओर धर्म एक बुलडोजर नहीं बना सकता है, लेकिन चालक की भावनाओं को नियंत्रित कर सकता है कि वह उसे बच्चे के ऊपर न चलाये। हम बुलडोजर चाहते अवश्य हैं। हम निश्चित भी होना चाहते हैं कि वह बच्चों को न कुचले। हम शक्ति और विवेकशीलता साथ–साथ चाहते हैं। और विज्ञान की शक्ति, जो अंधी शक्ति है, में विवेकशीलता अन्तर्निहित नहीं है। अतः इसे और कहीं से प्राप्त करना होगा। यह 'और कहीं' धर्म के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।

तथाकथित 'विशुद्ध विज्ञान' के उपासकों द्वारा प्रस्तुत इस आशय के तर्कों की कमी नहीं है कि नैतिक–उत्तरदायित्व–विहीन कार्यकारी दक्षता, जिसका प्रतीक बुलडोजर है, वैज्ञानिक का मुख्य लक्ष्य है। लेकिन विश्व के सर्वकालिक महानतम वैज्ञानिकों में से एक आइन्स्टीन का यह निश्चित मत है कि विज्ञान की सृष्टि ऐसे लोगों द्वारा ही संभव है जिनमें बुद्धिमता एवं सत्यानुराग दोनों है। और इस भावना का स्रोत जो वैज्ञानिक चेतना के समीचीन विकास के लिए आवश्यक है, धर्म के क्षेत्र में है। उन्हीं के शब्दों में– "इस गहरे विश्वास से रहित सच्चे वैज्ञानिक की मैं कल्पना नहीं कर सकता।"[5]

इस प्रकार एक महान् वैज्ञानिक के प्रमाण के आधार पर हम देखते हैं कि सच्ची वैज्ञानिक गवेषणा के लिए भी विश्वास की कार्यकारी आधार–शिला आवश्यक है। यह भी सर्वविदित है कि विश्वास आध्यात्मिक जीवन की नींव है। दूसरे शब्दों में मानव में दो प्रकार के सत्यान्वेषण के लिए एक ही आधार चाहिए और वह है विश्वास। तब फिर एक ही व्यक्ति का आध्यातिमक एवं वैज्ञानिक एक साथ होना असंभव क्यों होगा? यह सिद्धान्त मात्र नहीं है, बल्कि यह स्वयं आइन्स्टीन के जीवन के द्वारा प्रमाणित हुआ है। उनमें विज्ञान का प्राचुर्य और साधुता का प्राचुर्य जो कि आध्यात्मिकता का प्राण है, एक साथ संतुलित एवं अत्यंत सुन्दर रूप से सम्मिलित हुए थे।

धर्म और विज्ञान के बीच आदान–प्रदान की आवश्यकता पर स्वामी विवेकानन्द का मतः

स्वामी विवेकानन्द दो प्रश्न उठाते हैं –

(1) क्या धर्म को भी स्वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य प्रमाणित करना है, जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं?

(2) बाह्य–ज्ञान – विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म–विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है ?

स्वामी विवेकानन्द स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं– "मेरा तो विचार है ऐसा अवश्य होना चाहिए और मेरा अपना विश्वास भी यह है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों से ध्वंस प्राप्त हो जाए तो वह सदा ही निरर्थक धर्म था, कोरे अंधविश्वास का धर्म था एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाए उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जाएगा और इस अनुसंधान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्व विजयी होकर निकल आएंगे। वह केवल विज्ञान–सम्मत ही नहीं होगा, बल्कि उतना ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियां हैं– प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा क्योंकि भौतिक और रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तः साक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।"[6]

यहां हम इस महान् आध्यात्मिक नेता से इस सत्य का स्पष्ट प्रतिपादन पाते हैं कि धर्म को वैज्ञानिक मापदण्डों एवं कसौटी पर कसे जाने पर ही सच्ची धार्मिक भावना लाभान्वित होगी। विवेकानन्द के शब्दों में "अभिव्यक्त धर्म का यह उद्घोष दो कारणों से विशेष उत्साहवर्धक है। सर्वप्रथम इसमें धर्म का विज्ञान के प्रति सच्चा सम्मान प्रकट होता है, जो प्राच्य परम्परा में अज्ञात न होते हुए भी पाश्चात्य देशों में विरला ही पाया जाता है। द्वितीयतः यहां धर्म अपने अमरत्व में विश्वस्त हो सभी चुनौतियों का साहसपूर्वक सामना करने के लिए तत्पर दिखाई देता है।"

विज्ञान एवं धर्म के इन दो महान् नेताओं की सुविचारित सम्मतियों को एक साथ रखने पर इस बात की कोई युक्तियुक्त शंका नहीं रह जाती है कि वैज्ञानिक प्रवृतिसम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक हुआ जा सकता है। यह हमारे जीवन में इन दोनों पक्षों के लिए शुभकर होगा। बौद्धिक दृष्टि से भी इस संभावना के प्रति विश्वस्त होना बहुत लाभदायक होगा, क्योंकि मानव–अस्तित्व से संबंधित अनेक समस्याएं आधुनिक मानव के समक्ष हैं, जिन्हें उसे सुलझाना है। यह विश्वास एक नई क्रियात्मक शक्ति का आधार बन सकता है। इसकी सहायता से मानव वर्तमान एवं भविष्य की समस्याओं के साथ संघर्ष करने में जिस तरह समर्थ हो सकेगा वैसा पहले कभी नहीं था, क्योंकि तब उसका ज्ञान दो भागों में विभक्त था।

अनेक समस्याएं हमारे समक्ष हैं। लेकिन उन्हें सुलझाने के अनेक उपाय भी हैं। आध्यात्मिक जगत् में मानव की अनुभूतियां एवं बहुमूल्य उपलब्धियां हमारे पास हैं; और विज्ञान की आश्चर्यजनक खोजें भी हैं। लेकिन यह दुर्भाग्य ही है कि इन दो महान् शक्तियों ने अब तक एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखा है तथा कई बार एक दूसरे से झगड़ा किया है जिससे मानव का अकल्याण ही हुआ

है। लेकिन आज निश्चय ही ऐसा समय एवं ऐसी तात्कालिक आवश्यकता उपस्थित हो गयी है जब इन्हें मित्रता एवं सम्मानपूर्वक एक दूसरे के साथ पेश आना चाहिए, जिससे वे एक दूसरे से सीख सकें, एक दूसरे के सम्पर्क से लाभान्वित हो सकें तथा एक दूसरे की शक्ति से बलीयान हो सकें। अन्यथा हम धर्म के साधनहीन ज्ञान अथवा विज्ञान की प्रेरणाहीन कुशलता से वर्तमान एवं भविष्य की पेचीदी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेंगे।

विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
एच.एस. कॉलेज, हवेली खड़गपुर, मुंगेर

संदर्भ

1. *जे.ए. टामसन : Introduction to Science, पृष्ठ – 222–223.*
2. *कठोपनिषद् : 2.3.10.*
3. *अल्बर्ट आइन्स्टीन : Out of my Later Years, फिलासाफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, 1950, पृष्ठ–26.*
4. *बर्ट्रेण्ड रसेल, Wisdom of the East, डबलडे एण्ड कंपनी इंक, गार्डन सिटी, न्यूयार्क, 1959, पृष्ठ–312.*
5. *अल्बर्ट आइन्स्टीन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ– 26.*
6. *विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, 1972, पृष्ठ– 278.*

धर्म : अनुभूति और यथार्थ

प्रो. भारत वालेन्द्रे

धर्म का परिचय – 'धर्म' शब्द हम सबके लिए परिचित शब्द हैं। सामान्य मनुष्य इस शब्द के अर्थ में कोई विशेष कठिनाई अनुभव नहीं करता। यदि उससे पूछा जाय कि धर्म क्या है, तो वह हमारा लक्ष हिन्दूधर्म, इस्लाम, ईसाई, सिख, जैन और बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट करके 'धर्म' का अर्थ स्पष्ट करेगा। पर धर्म के संदर्भ में समुचित व्याख्या करना कठिन कार्य है। धर्म के संदर्भ में दार्शनिकों में ज्यादातर मतभेद है। इसी कारण धर्म की भिन्न–भिन्न परिभाषाएं दी गई हैं, जिनके फलस्वरूप धर्म का ठीक–ठीक अर्थ समझना अत्यंत कठिन हो जाता है। *ऋग्वेद* में धर्म शब्द छपन्न बार आया है। जेम्स एच. ल्यूबा ने अपनी किताब *"A Psychological Study of Religion"* में विभिन्न दार्शनिकों द्वारा भिन्न–भिन्न पचास परिभाषाओं का उल्लेख किया है। इस स्थिति में हमारे लिए धर्म का कोई स्पष्ट और निश्चित अर्थ लगाना कठिन हो जाता है।

धर्म की उत्पत्ति कैसी हुयी, कब हुई यह बताना कठिन है। धर्म की परिभाषाएं समाजशास्त्रियों ने अपने तरीके से दी हैं। जगत् धूप, हवा, बारिस, तूफां, जन्म–मृत्यु, गर्भधारण आदि बातों को देखकर चकित होता था। वह मन में भय पैदा करता था और संदेह के वातावरण का निर्माण करता था। इसी से धर्म यह संकल्पना दृग्गोचर हुयी। जपमंत्र कहने पर ईश्वर सम्पन्न होता है, उसी से संकट दूर होता, मनोकामना पूरी होती और उसे मुक्ति मिलती है। इसी कारण मनुष्य ईश्वर की पूजा–अर्चा करने लगा, आहुति, देने लगा। यही आगे धर्म में मान्यता बन गई।

धर्म का अन्वयार्थ – 'धर्म' शब्द संस्कृत है। यह 'धृ' धातु से बना है। 'धृ' का अर्थ है धारण करना, स्वीकार करना, पोषण करना ऐसा बताया गया। जो योग्य वही धर्म है। समाज के धारण में सभी मानवीय मूल्यों का समावेश होता है। धर्म के प्रति अपना कर्तव्य निभाने के लिए नियम बताये गये हैं। संस्कृत में इसे धर्मन् भी कहा है। धर्मन् का धर्म के संबंध में नियम, धार्मिक विधि ऐसा होता है। *ऐतरेय ब्राह्मण* में धर्म के सम्बन्धी कर्तव्य का सम्पूर्ण समुच्चय, *छांदोग्य उपनिषद्* में धर्म में तीन शाखा का समावेश है। वह यज्ञ, अध्ययन और दान है। संस्कृत में धर्म की व्याख्या

धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा ऐसी की जाती। *महाभारत* में यक्ष के पूछे गये प्रश्न के जवाब देते समय युद्धिष्ठिर कहते– 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था' अर्थात् धर्म का स्वरूप अत्यंत गूढ़ है इसलिए श्रेष्ठ पुरुष जैसे बर्ताव करते हैं वैसे ही बर्ताव करना चाहिए। मीमांसक के अनुसार चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः चोदना याने उपदेश, आज्ञा, विधि, प्रेरणा है। *महाभारत* में कहा है कि, ''जिस योग से प्रत्येक का धारण होता है, वही धर्म है। 'धर्म' शब्द अनेक अर्थ से आया है। जैसे कि स्वभाव–धर्म, मानवधर्म, प्रकृतिधर्म, विश्वधर्म, कर्तव्यधर्म, आदि। धर्म याने आश्रम, प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम यह चार आश्रम से जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसी के साथ–साथ धर्म निभाने के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ भी बताएं गये हैं।

धर्म के संदर्भ में विलियम जेम्स का कहना है ''धर्म यह विश्व के सभी धर्म का केवल समष्टि–बोधक अस्पष्ट अर्थ है। भिन्न–भिन्न मानव प्रवृत्ति के समान दिखाई देता है। ''मानववंशास्त्रज्ञ जेम्स फ्रेझर का कहना है कि 'जीवन व्यापी विश्व–नियंत्रक, श्रद्धा और दिव्यात्वाची आराधना ही धर्म है।' फ्रेंच समाज–शास्त्रज्ञ एमिल डुरकेम का कहना है कि आचरण का सामाजिक नियम धर्म है। व्हॉल्टेअर कहते हैं कि 'ऐतिहासिक धर्म दूसरा नियम कुछ नहीं, तो बदमाशों का अज्ञ जनता से निरंतर शोषण करने के लिये जानबूझकर रचा हुआ शडयंत्र है।' डॉ. के.एल. दप्तरी के अनुसार धर्म के प्रति देखने का दृष्टिकोण अत्यंत प्राचीन काल से इस प्रकार चलते आ रहे हैं– 1) सनातनी पंडितों का रूढ़िवाद, 2) तत्वनिष्ठ बुद्धीवादों का परिवर्तनवाद।

धर्म के मुख्य स्रोत – धर्म की उत्पत्ति और विकास के मुख्य स्रोत का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। जो इस प्रकार है।

भय एवं सुरक्षा – मानव–जीवन के आदि काल में मनुष्य को प्राकृतिक नियमों का कोई ज्ञान नहीं था। इसी कारण वह प्राकृतिक शक्तियों पर ही जीवित था। अपनी सभी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ता था। अन्य पशुओं की भांति वह इधर–उधर भटकता फिरता था। कभी गर्मी, घनघोर वर्षा तथा भीषण शीत से बचने के लिए वह गुफाओं में पूर्णतः सुरक्षित नहीं था। फिर वह एकजुट होकर समाज की स्थापना और उसी से आगे धर्म का स्वरूप प्राप्त हुआ।

संतों की वाणियां – प्राचीन युग में अनेक सन्त, ऋषि, मुनि हुये, जिन्होंने अपने अनुभव के आधार पर आम लोगों को धर्म में संचार किया। उन्होंने अपने वाणी से प्रेम, श्रद्धा, समानता जैसे मूल्यों का प्रचार–प्रसार किया। उनके धार्मिक प्रवचनों से धर्म के प्रति लोगों की आस्था सुदृढ़ बनी।

धर्म–ग्रंथों की महत्ता – प्राचीन काल से जब विभिन्न भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ उसी समय धार्मिक ग्रंथों की भी रचना की गई, जो कि आज सभी धर्म के मूल स्रोत बने। वेद, उपनिषद्, गीता, बायबल, कुरान, धम्मपद आदि ग्रंथ धर्मों के मूल स्रोत बने हैं। धर्म यह मानव मन की निर्मिति है। मनुष्य के मन को निसर्ग–नियम का पूर्णतः आकलन न होने से अलौकिक शक्ति का विचार बार–बार लोगों के मन में दिखाई देता है। इसी कारण निसर्ग–नियम का, ईश्वर का अपने कल्याण के लिए सम्बन्ध जोड़ा गया। अलौकिक शक्ति की उपासना, कर्मकाण्ड, प्रार्थना, यज्ञ आदि बातें धर्म के नाम पर आगे आयीं। इसी प्रथा को लोग धर्म कहने लगे। एकाध रूढ़ि बार–बार आचरण में आयी। उसी से परंपरा बन जाती है और वही आगे समाज–नियम बनता है।

धर्म का सम्बन्ध कर्म से जोड़ा गया। हिन्दू धर्म में कर्मविपाक बताने वाला सिद्धांत चातुवर्णाधिष्ठित है। मनुष्य जैसा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल मिलता है। यदि पारलौकिक सुख चाहिए तो इसी जन्म में लोगों को कल्याणकारी कर्म करने होंगे। तभी जीवन से मुक्ति मिलेगी। बुद्धि यही धर्म–अधर्म में निर्णय का एकमेव प्रमाण है। बुद्धि के उस पार अतींद्रिय, दिव्यशक्ति हैं, वे धर्म–निर्माण का कार्य करती हैं यह विचार दप्तरी को मान्य नहीं। उन्हें स्वर्ग, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मविपाक, अवतार आदि बातें मान्य नहीं हैं। यह सभी काल्पनिक है। यह बुद्धि से सिद्ध नहीं होती। यह बुद्धि प्रामाण्य परोक्ष कल्पनारम्य गूढ़वाद है। धर्मग्रंथ, धर्मविचार और आचार इसमें बदल करने का हमें कोई अधिकार नहीं। वेद यह ईश्वर प्रणीत है। वह अपौरुषेय है। यह रूढ़िवादियों का पक्ष रहता है। दूसरा पक्ष वेद को ईश्वर–प्रणीत नहीं मानता। अपौरुषेय यह भूमिका इस पक्ष को मान्य नहीं।

सभी जन सुख के लिए घडपड करते हैं। वे अपने संकट विमोचन करके ऐहिक सुख प्राप्त करते हैं। इसलिए दप्तरी ऐहिक सुख यही धर्म का साध्य है, ऐसे कहते हैं। दप्तरी के धर्म–विवेचन में रूढ़िवाद, सनातन विचार को जगह नहीं, परिवर्तनवादी तत्वनिष्ठ बुद्धिप्रामाण्य–वाद को जगह है। मनुष्य के आवश्यकता के कारण धर्म अस्तित्व में आया है। धर्म यह अपनी आवश्यकतानुसार निर्माण हुआ। धर्म का हेतु, धर्म का साध्य व्यक्ति का विकास होना चाहिए। हिन्दू धर्म जिसे धर्म कहता है, वह धर्म न होकर एक कायदा है, विशिष्ट वर्ग का आज्ञा–पत्र है। ऐसा आज्ञापत्र मुझे मान्य नहीं। ऐसे डॉ. अम्बेडकर कहते हैं।

उपनिषद् के तत्त्व मानव के हित में हैं। राष्ट्र–राष्ट्र के, समाज–समाज के और व्यक्ति–व्यक्ति के कलह मिटाने के लिये क्या करना चाहिए उनका उत्तर उपनिषद् में मिलता है। *भगवद्गीता* में निष्काम कर्म–योग में मानव–हित का विवेचन मिलता है, जो कि मानव–हित में दिखाई देता है। उपनिषद् यह मानव–निर्मित है ऐसा डॉ. दप्तरी का मानना है। इस उपनिषद् के विचार को डॉ.

अम्बेडकर भी मान्यता देते हैं। दफ्तरी का कहना है कि जगत् के आदि कारण ब्रह्म हैं, उन्हीं के कारण सृष्टि बनी। उपनिषद् का सह सभी वेद पूर्णतः मनुष्यकृत है। ऐसी दफ्तरी की भूमिका है। वेद हो या उपनिषद् हो वह अपौरुषेय न होकर मानव–निर्मित है। इसलिए बुद्धि के कसौटी पर उन्हें जांचना चाहिए। ऐसी डॉ. दफ्तरी की भूमिका है।

चातुर्वर्ण्य समाज–व्यवस्था में व्यक्ति के विकास को महत्व नहीं था। बुद्ध के अनुसार धम्म याने सदाचार नीति है। मनुष्य ने मनुष्य पर प्रेम करना चाहिए। इसी से नीति का उगम होता है। बुद्ध इसी प्रकार धम्म–अधम्म ठहराते हैं। दैवी चमत्कार, ईश्वर, वेद, आत्मा, यज्ञ आदि पर विश्वास करना अधम्म है। हिन्दू धर्म पारलौकिकता, ईश्वर–अस्तित्व, आत्मा का अस्तित्व, वेद–प्रामाण्य, शब्द–प्रामाण्य को मान्यता देता है, पर बौद्ध धर्म इस पर विश्वास नहीं करता। हिन्दू धर्म ने जीवन में भविष्य में उसने कैसे रहना चाहिए, उनके मरणोपरान्त उनके शरीर की व्यवस्था कैसी लगायी जाए, बालक ने जन्म के पश्चात् क्या करना चाहिए, उनके नामकरण कैसे करना चाहिए, उसने कौन सा व्यवसाय करना चाहिये– ऐसा धर्म बताता है। मनुष्य के जन्म के बाद मरने तक उनके संस्कार, उनकी चालीरीति, उसने क्या खान पान करना चाहिये, किन स्त्रियों से विवाह करना चाहिए आदि बातें धर्म ने बताये हैं।

डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि धर्म का आशय परिस्थिति और काल के अनुसार बदलना चाहिए। उसे स्थितिशील न होते हुये परिवर्तनीय होना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार धर्म की मूल संकल्पना शाश्वत सुख के लिए न होकर जीवन के तरफ देखने का है। उनका परिप्रेक्ष्य बुद्धिप्रामाण्य–वादी नहीं है। पर परमोच्च जीवन जीने के लिये शांति, करुणा, समता–नीति का जीवन में प्रवेश होना अत्यंत आवश्यक है। वे कहते हैं कि हिन्दू धर्म में मनुष्य को कोई स्थान नहीं। हिन्दू धर्म की रचना जाति के कल्पना पर है। एक ने दूसरों से कैसे रहना चाहिए इसके निर्बन्ध हिन्दू धर्म सिखाता है। एक जाति ने दूसरे जाति से कैसे रहना चाहिए इनका बंधन हिन्दू धर्म में है।

व्यक्ति का विकास यही धर्म की सही नींव है। धर्म व्यक्ति के विकास में अवरोध पहुंचाने वाला नहीं होना चाहिए। धर्म के नाम पर कुछ बातें पाई गयीं जैसे कि, मोक्ष, स्वर्ग, आत्मा, पुनर्जन्म आदि संकल्पना धर्म के नाम पर मनुष्य के मन पर आरोपित की गयीं। धर्म का मतलब जिसमें मनुष्य नैतिक नियमों से जीते हैं। ऐसी सामाजिक सुव्यवस्था निर्माण करना ऐसा धर्म का अन्वयार्थ डॉ. अम्बेडकर लेते हैं। डॉ. अम्बेडकर का कहना है जो धर्म किसी एक को संज्ञान बनाता, दूसरे को अज्ञान में रखता वह धर्म न होकर रचा हुआ षडयंत्र है।

डॉ. अम्बेडकर का कहना है कि सामाजिक संरचना मानवी मूल्यों पर होनी चाहिए। अर्थात् सामाजिक नियम मानव–कल्याण के लिए पोषक होने चाहिए। पर धर्म के संकल्पना में शांति, समता, नीति, अहिंसा, ये मूल्य दिखाई नहीं देते। *रामायण, महाभारत* और *गीता* में चार वर्णों का कर्तव्य बताया गया। पर उससे शांति, अहिंसा, बंधुता, मानवता यह मूल्य प्रस्थापित नहीं होते हैं। इससे भाईचारा नहीं बनता। डॉ. अम्बेडकर धर्म की परिभाषा देते हैं – जिससे सभी प्रजाओं का धारण होता है वही धर्म है। लोकमान्य तिलक के अनुसार समाज के धारण के लिए डाला हुआ बंधन धर्म है। हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म में साम्यता और भेद भारतीय विचारधारा में तीन भागों में विवेचन मिलता है।

1. वैदिक युग 2. वेदोत्तर युग और 3. दर्शनों का युग

प्रत्येक भागों में अनेक सिद्धान्त का विवरण दिया है। उसमें तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, धर्ममीमांसा और व्यावहारिक शिक्षा और नीति भी समाविष्ट है। वैदिक युग में वेद में एकेश्वरवाद अर्थात् ब्रह्म का विश्लेषण किया गया। वेदोत्तर युग में कर्मकाण्डवाद, ब्रह्मवाद, ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद का भी विश्लेषण किया गया है।

इसी विचारधारा से आगे वेदोत्तर युग में आस्तिक और नास्तिक विचारधाराएं अविष्कृत हुईं, जिन्होंने वेद और पारलौकिक विचारधारा पर विश्वास रखा। वेदों को प्रमाणभूत माना गया। उन्हें आस्तिक वर्ग में रखा गया, जिन्होंने वेद प्रमाणभूत माना। पारलौकिक सत्ता पर जिनका विश्वास नहीं उन्हें नास्तिक वर्ग में रखा गया। आस्तिक में न्याय–वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त आदि को समाविष्ट किया गया और नास्तिक वर्ग में चार्वाक, जैन और बौद्धों को समाविष्ट किया।

हिन्दू धर्म आस्तिक वर्ग में समाविष्ट है, क्योंकि उन्होंने वेद को प्रमाणभूत, अपौरुषेय माना। उनका ईश्वर पर, पालौकिक सत्ता अर्थात् आत्मा–परमात्मा पर विश्वास है। इसलिए कर्मकाण्ड को विशेषरूप से स्थान दिया गया है। जैन धर्म नास्तिक वर्ग में समाविष्ट है, क्योंकि उन्होंने ईश्वर को नकार कर आत्मा को माना है। वह वेद को प्रमाण नहीं मानते। बौद्धों ने ईश्वर, आत्मा और पारलौकिक सत्ता को नकारा है और वे वेद को प्रमाणभूत नहीं मानते।

हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में अपने–अपने कर्तव्य का पालन करने को कहा गया है। जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुये कहा कि –

'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा व भोक्ष्यसे महीम।,
तस्भाद् उत्तिष्ट कौंतेय युद्धाय कृत निश्चयः।।' *गीता* 2–37।।

अर्थात् शत्रु का संहार कर लेगा तो राजा बनेगा और लड़ते–लड़ते मर भी गया तो स्वर्ग मिलेगा। बुद्ध ने धम्मपद में मनुष्य के कर्म के संदर्भ में कहा कि 'न ही वेरेन वेरानि संमतिद कुचादनं, अवैरेन च समत्ती एस धम्मो संतनो'। अर्थात् वैर से वैर

बढ़ता है। अवैर से शान्ति प्रस्थापित होती है। इसमें बुद्ध की बताई गयी अहिंसा दिखाई देती है। हिन्दू धर्म में अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहकर अपने हाथों से हिंसा भी हुयी तो माफ हो जाती ऐसा कहा है। *भगवद्गीता* (3–47) में ऐसा भी कहा है:–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोत्स्वकर्मणि।।

अर्थात् केवल कर्म पर तेरा अधिकार है। कर्मफल में तेरा अधिकार नहीं। पर बुद्ध कहते हैं कि कर्म करते समय किसी को हानि न पहुंचे ऐसे कर्म करो। बुद्ध *धम्मपद* में कहते हैं –

सुमति मति विचार बोधनो विमति विमोह विनासनो अयं।
कुमति मति महातमो हरों पटुमति हासकरो कतो मया।।

अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति जब अच्छी दृष्टि से विचार करता, तब उनके ज्ञान की वृद्धि होती है, शंका और मोह मनुष्य को विनाश के तरफ ले जाते हैं। अच्छे मनुष्य की दृष्टि जीवन को सुख प्रदान करते। अर्थात् दोनों धर्म में कर्तव्य के प्रति समानता नहीं दिखाई देती है। पर हिन्दू और बौद्धों में इस प्रकार समानता दिखाई देती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।।

और

सब्बे सत्ता सुखी होन्तु, सब्बे होन्तु च खेमिनो।
सब्बे भद्रानि पस्यन्तु मा काच्चि दुःख मागमा।।

इस प्रकार दोनों में साम्यभाव दिखाई देता है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा को बहुत महत्व है। अहिंसा यह बौद्ध धर्म का केन्द्रबिन्दु माना जाता। वैदिक काल में यज्ञ के लिए प्राणी–हिंसा होती थी। उसी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये बुद्ध ने अहिंसा यह तत्त्व बताया। प्राणियों की जानबूझकर हत्या करना गलत है। पर जैन में अहिंसा का सिद्धान्त ''अहिंसा परमो धर्मः'' ऐसा बताया गया है। जैन धर्म में वाणी से दर्द पहुंचाना, नये रास्ते से जाना हिंसा ही समझी जाती थी। अहिंसा का पालन करने के लिये जैन धर्म–गुरु मुख पर पट्टी रखते हैं। पर डॉक्टर अंबेडकर का कहना था कि अपने आंख की पलक को बंद करने और खोलने से आंख में जंतु प्रवेश करेंगे और उसी की हत्या होगी। इसलिये हमें देखना बंद कर देना चाहिए क्या? ऐसा सवाल उपस्थित करते हैं। भिक्षु को यदि कोई दान में मांस दिया तो वे स्वीकार करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा के प्रति हम सजग रहें पर अंतिम टोक की भूमिका ना ले।

वैदिक धर्म में 'आर्य' यह शब्द है और बौद्ध धर्म में 'आर्य' शब्द का उल्लेख है। दोनों धर्म में आर्य शब्द समान अर्थ से आया है। यह समानता दिखाई देती है। सांख्य दर्शन में दुःखवाद का विवेचन किया और बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्य में

दुःखवाद ही बताया गया। दोनों का उद्देश्य दुःख का निवारण करना है। पर सांख्य दर्शन पुरुष अर्थात् आत्मा को मान्यता देता है। बौद्ध दर्शन आत्मा को नकारते हैं। यह उनमें मुख्य भेद है।

योग दर्शन में अष्टांगयोग द्वारा चित्तशुद्धि बतायी तो बौद्ध दर्शन में अष्टांग मार्ग बताया। यह कर्म पर बल देते हैं तो योगदर्शन आन्तरिक शुद्धता पर बल देता है। योग ने पांच प्रकार के यम बताये। वे इस प्रकार हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। यही बात बौद्धों के पंचशील में दिखाई देती है। वे इस प्रकार हैं 1) सभी प्राणी मात्र पर प्रेम करना– अहिंसा, 2) चोरी न करना – अस्तेय, 3) व्यभिचार न करना– ब्रह्मचर्य, 4) झूठ न बोलना– सत्य, 5) मद्यपान न करना– अपरिग्रह। जिसमें साम्यता दिखाई देती है। इसी को जैन धर्म ने अणुव्रत का कहा है। कठोरता से पालन करने से इनको ही महाव्रत कहा है। बौद्धों ने पंचशील के पश्चात् भिक्षु के लिये दस पारमिताओं का पालन करने को कहा है।

योगदर्शन में आंतरिक चित्तशुद्धता के लिये नियम बताये हैं– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान। बौद्धों ने विपश्यना बताई है। *विशुद्धीमग्ग* में आचार्य बुद्धघोष ने विपश्यना का कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विवेचन किया है। बुद्ध का कहना है कि विपश्यना के बल पर मनुष्य निर्वाण तक पहुंच सकते हैं। अर्थात् बौद्ध की विपश्यना और योग की चित्तशुद्धता में समानता दिखाई देती है। बौद्ध और जैन धर्म में सम्यक् शब्द समान अर्थ से आया है। जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र इसी को त्रिरत्न कहा तो बौद्धों में बुद्ध, धम्म और संघ को त्रिशरण कहा है और साथ में प्रज्ञा, शील और करुणा भी बताई।

हिन्दू और जैन धर्म में आत्मा और कर्म के कारण जन्म बताया गया तो बौद्धों में तृष्णा के कारण जन्म बताया गया। वे पुनर्जन्म को मानते हैं। हिन्दू धर्म के मोक्ष और बौद्ध धर्म के निर्वाण में अन्तर है। हिन्दू धर्म के अनुसार मोक्ष याने मुक्ति अर्थात् जन्म और कर्म–बन्धन से मुक्ति यही मोक्ष हैं। बौद्ध धर्म में निर्वाण का अर्थ बुझ जाना, ऊर्जा का क्षमन हो जाना, विकारों से मुक्त होना ही निर्वाण है। जिस प्रकार जब तक दीपक में तेल रहेगा तब तक उसका उजाला रहेगा। तेल खत्म होने से दीपक का जलना भी बंद हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य को जीते–जी ही निर्वाण पद प्राप्त हो सकता है। यही मोक्ष और निर्वाण में मुख्य अन्तर है। जैनों ने मोक्ष को ही कैवल्य कहा है। कैवल्य याने जीव का एकाकी होना। अर्थात् जीव अपने कर्म–बंधनों से मुक्त हो जाता है, याने केवली हो जाता है।

हिन्दू श्रावणमास करते हैं। जैन चार्तुमास करते हैं। बौद्ध वर्षावास करते हैं। मुस्लिम रोजा रखते हैं। यह सभी धर्म के नियम आन्तरिक शुद्धता के लिये बताये गये हैं और वे सभी नियम व्यक्ति–विकास और कल्याण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण

हैं। यही इन चारों धर्म में समानता दिखाई देती है। स्वातंत्रवीर सावरकर का कथन है कि ब्रिटिश काल में ब्रिटिश लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे। सिन्ध का उच्चारण हिंद ऐसा किया करते थे। उसी से यह स्पष्ट होता है कि हनुमान और सुलेमान में कोई भेद नहीं। 'स' का 'ह' उच्चारण के कारण अपने देश को हिंदुस्थान ऐसा नाम पड़ा। धर्म के विधि में भी ब्राह्मण–मुंजे, खिश्चन–बप्तिस्मा, बौद्ध– दीक्षा और मुस्लिम खात्मा करते हैं।

वेदो में ऐसा कहा गया कि ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की, ब्रह्म ने ही चातुर्वर्ण व्यवस्था का निर्माण किया। *ऋग्वेद* के पुरुष–सूक्त (11) में –

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।"

अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय ब्रह्म के बाहु से, वैश्य ब्रह्म के पेट से और शूद्र पैर से पैदा हुये। इस चारों वर्णों का भी कर्तव्य बताया गया। ब्राह्मण का कर्तव्य वेद–पठन करना, अध्ययन करना, यज्ञ करना और विद्यादान करना, क्षत्रियों का कर्तव्य प्रजाओं का रक्षण करना, वैश्यों का कर्तव्य व्यापार करना और शूद्रों का कर्तव्य तीनों वर्ण की सेवा करना। यह हिन्दू धर्म की वर्णव्यवस्था चार मंजिल के इमारत के समान है। जो जिस स्तर पर जन्मेगा उसी स्तर पर अपना जीवन व्यतीत करेगा। पर बुद्ध धम्मपद में कहते हैं–

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होती ब्राह्मणो।।

अर्थात् जन्म से, जाति से कोई उच्च–निच्च नहीं होता। कर्म से ही मनुष्य उच्च–निच्च होता है। अन्त में बुद्ध कहते हैं–

"सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित परियोदपनं एतं बुद्धानं सासनं।।"

अर्थात् कोई भी पाप न करना, कुशल सम्पादन करना, स्वचित्त विशुद्ध करना, यही बुद्ध की शिक्षा है। बुद्ध धर्म में समता, बन्धुता, मैत्री, करुणा की शिक्षा दी गयी है। बौद्ध धर्म मानवी कल्याणकारी दिखाई देता है।

धर्म की आवश्यकता – मनुष्य मात्र में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान होता है। जीवन के समस्त क्षेत्र में धर्म की अहं भूमिका मानी जाती है, पर कुछ लोग धर्म को कोई महत्व नहीं देते। डॉ. अम्बेडकर के दृष्टि से मानव–जीवन में धर्म अनिवार्य है। मार्क्सवाद ने धर्म को अस्वीकार करके उसे अफीम की संज्ञा दी, पर डॉ. अंबेडकर जीवन में धर्म को अनिवार्य समझते हैं। उनका कहना है कि कुछ लोग सोचते हैं कि धर्म समाज के लिये अनिवार्य नहीं। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूं। मैं धर्म की नींव को समाज के जीवन तथा व्यवहारों के लिये अनिवार्य मानता हूं। उन्होंने कहा कि मनुष्य मात्र रोटी के सहारे जीवित नहीं रहता। उसका एक

मस्तिष्क भी होता है जिसे विचाररूपी खुराक की जरूरत होती है। धर्म मनुष्य में आशा का संचार करता है और उसे कर्म करने के लिये प्रेरित करता है। इसलिये धर्म की आवश्यकता है।

निष्कर्ष और उपाययोजन –

1. कोई भी आपस में वैर नहीं सिखाता।
2. कुछ धर्म आस्तिक और नास्तिक हैं, उनका उनका द्वेष नहीं होना चाहिए।
3. परधर्मिय विद्वेष मिटाना चाहिए।
4. सभी धर्म में अहिंसा बताई गयी, उसी का पालन करने का प्रयास होता है।
5. सभी धर्म अहिंसा, सत्य, मैत्री, करुणा का सन्देश देते हैं।
6. सभी धर्म जीवन जीने की सोच बताते हैं।
7. धर्म में उच–निचता का भेदभाव नहीं होना चाहिए।
8. धर्म मानवहित और मानवी कल्याण के लिए होना चाहिए।
9. सभी धर्म में जीवन–मूल्यों को स्वीकारने की स्वतंत्रता और अधिकार होने चाहिए।
10. विघातक रूढ़ियों का प्रतिबन्ध होकर आपस में भाईचारा बनाना चाहिए।

दर्शनशास्त्र विभाग प्रमुख,
नबीरा विद्यालय, काटोल (महाराष्ट्र)

संदर्भ

1. *वाघमारे, दि. रा. : आंबेडकरी धम्म–एक आकलन, निर्मल प्रकाशन, नांदेड– 421605, 1995.*
2. *जाटव, डॉ. डी.आर. : धर्म–दर्शन की रूपरेखा, मलिक एण्ड कंपनी 337, जयपुर –302003, 2000.*
3. *भट, आ.य. : धर्म शास्त्राचा इतिहास, महाराष्ट्र साहित्य व संस्कृति मंडल, 1967*
4. *जोशी, ज.वा. : धर्माचे तत्वज्ञान कॉंटिनेंटल प्रकाशन पुणे–30, 1975.*
5. *वर्मा, वेद प्रकाश : धर्म–दर्शन की मूल समस्याएं, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशनालय, दिल्ली–110007, 2000.*
6. *देवराज, डॉ. नंदकिशोर : भारतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 227001, 1976.*
7. *हिरियन्ना, एम. : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 110002, 1965.*
8. *पलशीकर, नरेश : धर्माचे समाजशास्त्र, महाराष्ट्र राज्य साहित्य व संस्कृति मंडल, मुंबई–400032, 1986.*
9. *अनुवादक डॉ. भदंत कौशल्यायन : भगवान बुद्ध और उनका धम्म बुद्धभूमि प्रकाशन, खैरी कामठी रोड, नागपुर, 2000.*
10. *भिक्षु संघ रक्षित : धम्मपद, बुद्धभूमि प्रकाशन, खैरी कामठी रोड, नागपुर, 2000.*
11. *अनुवादक कंगाले र.प. : सर्वदर्शन संग्रह, महाराष्ट्र राज्य साहित्य व संस्कृति मंडल, मुंबई–400032, 1985.*

श्रीअरविन्द के दर्शन में आध्यात्मिक समाज की कल्पना

डॉ. कुमारी भारती

श्रीअरविन्द (1872–1950) समकालीन भारतीय–चिंतन के अन्यतम प्रतिनिधि हैं। असाधारण मेधा तथा प्रतिभा के धनी श्रीअरविन्द का व्यक्तित्व बहुआयामी था। महान् चिंतक, दार्शनिक, महायोगी, कवि तथा अनेकानेक ग्रंथों के प्रणेता होने के साथ–साथ उन्होंने भारतीय स्वाधीनता–संग्राम में सक्रिय भूमिका भी निभाई।[1] वे भारतीय पुनर्जागरण काल के रचनात्मक रूप से सर्वाधिक सक्रिय व्यक्तित्व थे। समकालीन विचारकों ने मुक्त कंठ से उनकी प्रतिभा को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध विद्वान् रोमां रोलां ने उन्हें यूरोप एवं एशिया की प्रतिभा के सर्वोच्च समन्वय के रूप में स्वीकार किया। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें विश्व को भारत के आध्यात्मिक संदेश के प्रखर प्रवक्ता के रूप में नमस्य माना। सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् उन्हें आधुनिक भारतीय चिंतकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मानते थे। उनके व्यक्तित्व एवं मानसिकता के दिशा–निर्धारण में देशी एवं विदेशी चिंतन तथा विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। एक ओर जहाँ वे वेद, उपनिषद् तथा वेदांत की परंपरा से प्रभावित थे वहीं दूसरी ओर उनकी विचारधारा को सँवारने में पाश्चात्य चिंतन एवं विचारों का भी महत्वपूर्ण योगदान था।

कल्पना, प्रवण, साहित्यिक प्रतिभा–सम्पन्न एवं दृढ़चेता श्रीअरविन्द ने एक ओर जहाँ अपने लेखों के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया तथा भारतीय स्वतंत्रता–आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वहीं उन्होंने भ्रातृत्व–बोध के भौगोलिक सीमाओं से परे स्वरूप को पहचानने में भी कोई भूल नहीं की। अपने जीवन–काल में उन्होंने अफ्रीका, यूरोप तथा एशिया में होने वाले अनगिनत युद्धों में संहार एवं हिंसा के तांडव को देखा था। नाजीवाद, फांसीवाद, पूँजीवाद, साम्यवादी राष्ट्रों के बढ़ते हुए तनाव का अनुभव भी उन्होंने किया था। दो विश्वयुद्धों ने विश्वशांति तथा मानव–कल्याण के प्रति उन्हें सोचने के लिए विवश कर दिया तथा उन्हें एहसास दिला दिया कि विश्व में शांति तथा प्रेम किसी भी प्रकार की बाह्य या कृत्रिम प्रणाली के द्वारा स्थापित नहीं कर सकते, चाहे वह सामाजिक,

राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से बनाया गया बृहत्तर एकता का कोई रूप हो। अतः उन्होंने कृत्रिमता से परे मनोवैज्ञानिकता पर आधारित आध्यात्मिक मानव–समाज की कल्पना की जो स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व पर आधारित हो। उनके अनुसार परमसत् एक आध्यात्मिक तत्व है। वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनिर्देश्य, अनुभवातीत और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है, अपितु उसमें गतिशील उत्परिवर्तन तथा बहुत्व (अनेकत्व) के बीज विद्यमान रहते हैं, अतः विविधता भी उतनी ही वास्तविक है जितनी की एकता। ब्रह्माण्ड के विकास के हेतु आत्मा अपनी चेतना का निःशेषतः परिसीमन करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है। उस अचेतनता से ही विकास का क्रम आरम्भ होता है और उत्तरोत्तर द्रव्य, जीवन तथा चित्त (मन) प्रादुर्भूत होते हैं। बाह्य जगत् वास्तविक सत्ता की वास्तविक सृष्टि है[2] तथा प्रत्येक मानव एक स्वयं–विकसनशील आत्मा एवं भगवान् की सचेतन शक्ति है।[3] वह अनादि सत्य की एक जीवंत शक्ति है, एक स्वाभिव्यक्तिशील आत्मा है।[4] वह एक ऐसी सत्ता है जो यहाँ मन, प्राण और शरीर के रूपों में अपने आप को प्राप्त तथा चरितार्थ करने का प्रयत्न कर रही है। मन, प्राण और शरीर में आबद्ध होकर भी वह केवल इनकी समग्रता नहीं है। वह एक ऐसी आत्मा है जो अपने सारतत्व में दिव्य है एवं जिसका अवतरण ऊपर स्वर्ग में ही नहीं बल्कि इस पृथ्वी पर भी दिव्य पूर्णता लाने के लिए हुआ है। मनुष्य आंतरिक रूप में भगवान् के साथ एक है।[5] अतः हमें अपने अंदर के मनुष्य की महत्ता का सम्मान करना चाहिए। मानव–सत्ता के वे सभी अंश जो उसके शारीरिक, प्राणिक, गतिशील, आवेगात्मक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास के साथ संबंधित हैं पवित्र हैं। उनके अनुसार मानव–व्यष्टि की तरह मानव–समष्टि सम्पूर्ण मानवजाति भी असीम का 'आत्मा–रूप' है। वह 'परमआत्मा' की, दिव्य सद्वस्तु की तथा पृथ्वी पर मनुष्य में निहित चेतन असीम की जटिल अभिव्यक्ति और स्वपरिपूर्णता का साधन है। वह एक ऐसी 'सामूहिक–आत्मा' है जो अपने अनेकों सम्बन्धों तथा अनगिनत कार्यों में दिव्य परिपूर्णता लाने के लिए इस पृथ्वी पर सहस्रों रूपों में अवतरित हुई है।[6] श्री अरविन्द के विचार में चूँकि मनुष्य अपने आंतरिक रूप में भगवान् के साथ एक है, उसकी संभावित दिव्यता ही उसका एकमात्र धर्म अथवा सिद्धांत हो सकती है।[7] उनके अनुसार मानव–व्यष्टि और मानव–समष्टि समस्त मानव–जाति परमआत्मा, दिव्य सद्वस्तु का आत्मा–रूप है अतः उसमें गुप्त आध्यात्मिक एकत्व है।[8] उनके अनुसार मानवता का लक्ष्य है समस्त मानव–जाति के प्रति प्रेम तथा मनुष्य–मनुष्य में सच्ची एकता की उपलब्धि।[9] अतः मानव–अस्तित्व के स्वाभाविक नियम तथा भगवान् में मानव–अस्तित्व की परिपूर्ति एवं जगत् में भगवान् की परिपूर्ति के विधान के अनुसार मानव की भवितव्यता है प्रकृति में अपने को अभिव्यंजित करनेवाली आत्मा तक पहुंचाना; अपनी सत्ता, शक्ति, चेतना, संकल्प तथा ज्ञान में उसके साथ

एक हो जाना।[10] वे मानते हैं कि मनुष्य के व्यक्ति–आत्मा बनने का यही उद्‌देश्य है कि वह अपने–आप को प्रत्येक मानव–सत्ता में देख सके और अभिव्यक्त कर सके। अतः आत्मज्ञान तथा आत्म–प्रभुत्व के द्वारा अपने साथी मनुष्यों के साथ आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक एकता को प्राप्त कर सके।[11] इसी आधार पर उन्होंने एक ऐसे मानव–समाज की कल्पना की जो तीन नैतिक आदर्शों– स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभावना पर आधारित हो। उनके अनुसार ये सब आत्मा की तीन दिव्यताएं हैं। ये आत्मा के स्वभाव हैं, उसके सनातन गुण हैं।[12] इनके आधार पर ही हम शाश्वत शुभ को प्राप्त कर सकते हैं एवं एक उच्चकोटि की समाज की स्थापना कर सकते हैं।

उनके अनुसार स्वाधीनता या स्वतंत्रता मानव की प्राचीन और कठिन अभीप्साओं में एक है। 'अपने उच्चतम अर्थ में यह सत्ता की एक अवस्था है।' यह हमारी सत्ता की मौलिक सहज–प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। 'हमारा शाश्वत शुभ है,' हमारी पूर्णता की शर्त है।' फिर भी लौकिक स्तर पर हम इसे प्राप्त नहीं कर पाते[13] क्योंकि लौकिक धरातल पर हम स्वतंत्रता को अपने अंदर नहीं वरन् बाह्य अवस्थाओं में ढूंढते हैं। इस स्तर पर व्यावहारिक रूप से स्वतंत्रता से हमारा तात्पर्य होता है अपनी आत्मतुष्टि के लिए पर्याप्त स्थान जिसमें दूसरों का हस्तक्षेप न हो। लेकिन यहां समस्या यह है कि एक की स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता के लिए घातक हो सकती है और उनमें संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। व्यावहारिक धरातल पर एक समय स्वतंत्रता को पूंजीवादी व्यवस्था की स्वतंत्र 'प्रतियोगिता प्रणाली' के नाम से महिमामण्डित किया गया। इसके परिणामों के प्रति असंतोष से उत्पन्न समाजवादी व्यवस्था में समानता के नाम पर व्यक्ति को एक नियंत्रित स्वतंत्रता ही दी गई। अंततः इसका अर्थ है समाज के द्वारा पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता का निषेध। श्री अरविन्द के अनुसार हमारे अब तक के अनुभव में इस प्रकार की यांत्रिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप सापेक्षिक स्वतंत्रता ही मिली है। इसका भी उपभोग कुछ मुट्‌ठी भर लोगों के द्वारा दूसरों को वंचित करके किया गया है, जिसका अर्थ है बहुसंख्यक वर्ग पर अल्पसंख्यक वर्ग का शासन। उदाहरणस्वरूप श्री अरविन्द प्राचीन काल में यूनान की जनतंत्रिय व्यवस्था, धनिकतंत्रिय प्रणाली, महिलाओं के शोषण, राष्ट्रों के द्वारा अपने अधीन नागरिकों के शोषण आदि का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार ये असंगतियां इस बात का संकेत हैं कि स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ अभी तक हमने समझा ही नहीं।[14] इसीलिए पारस्परिक सहायता और आदान–प्रदान द्वारा उन्नति करने के स्थान पर दूसरों को हानि पहुंचाकर भी अपने अधिकार की स्थापना करने तथा अपने साथियों के स्वतंत्र विकास को बाधित करते हुए भी अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करने के लिए हम प्रेरित होते हैं । श्री अरविन्द के विचारों में स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि

प्रत्येक मानव–व्यष्टि तथा मानव–समष्टि अपने आप में एक आत्मा है, एक सत्ता का निवास है जिसे अपने ही विधान के अनुसार प्रगति करने, अपने को ढूंढ़ने और प्राप्त करने तथा अपने जीवन को अपनी सत्ता की प्रतिमूर्ति बनाने का अधिकार है।[15] मानवजाति के विकास में स्वतंत्रता एक प्रेरक शब्द है। लौकिक स्तर पर इसकी प्राप्ति के लिए जो धर्म संघ–विचार की स्वतंत्रता तथा नये नैतिक और सामाजिक विकास को कुचलता है उसे अधिकारच्युत करना होगा ताकि मनुष्य मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से स्वाधीन हो। शासक और कुलीनवर्ग के एकाधिकारों और विशेषाधिकारों को समाप्त करना होगा ताकि राष्ट्रीय शक्ति, समृद्धि, गतिविधि में सबों की भागेदारी हो। पूंजीवादी व्यवस्था को भी ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करने के लिए बाध्य करना होगा जिसमें दुःख, गरीबी तथा शोषण न हो। सभी क्षेत्रों में अपने अन्दर के मनुष्यत्व की महत्ता और स्वतंत्रता को समझना होगा।[16]

फिर स्वतंत्रता के बाद श्रीअरविन्द समानता पर जोर देते हैं। इस समानता की भावना को समझकर एक दूसरे से उचित सम्माननीय आचरण कर इस जीवन को शुभ, सुन्दर बनाकर परमतत्व को प्राप्त कर सकते हैं। उनके अनुसार समानता भी आत्मा की अन्यतम विभूति है। मानव–विकास में इसकी अपरिहार्य भूमिका है। स्वभावतः मानव–इतिहास में समानता और न्याय की प्रबल मांग रही है। श्री अरविन्द स्वीकार करते हैं कि इस जगत् में पूर्ण समानता का अस्तिव नहीं है। इतिहास में इस शब्द का प्रयोग पुरानी सामाजिक व्यवस्था की अन्यायपूर्ण असमानताओं का विरोध करने के लिए किया गया था। ऐसी आशा की गयी कि न्यायमुक्त सामाजिक व्यवस्था में सबको समान अवसर मिलेगा, समानशिक्षा तथा सामुदायिक जीवन के लाभों में इसकी उन्नति के लिए श्रम करने वालों को समान भागीदारी दी जाएगी। लेकिन दुर्भाग्य से समानता का यह सिंद्धांत स्वतंत्र सहकारिता का रूप न ले सका।[17] गहन अभीप्सा और अथक प्रयत्नों के बाद भी मानव–समाज न तो पूर्ण स्वतंत्रता पा सका है, न समानता। श्री अरविन्द की दृष्टि में ''भ्रातृभावना ही मानवता के विचार की त्रिविध शिक्षा की वास्तविक कुंजी है।''[18] यह तीनों में महान् है। भ्रातृभावना के विचार को और भी व्यापक रूप देते हुए वे इसकी व्याख्या 'आंतरिक एकता' के रूप में करते हैं, क्योंकि केवल भाई के रूप में देखना एक कच्चा बंधन है। ऐक्य भाव का अर्थ है मनुष्य का अन्य सभी मनुष्यों के साथ केवल सहानभूति ही नहीं बल्कि एकता, सर्वसामान्यता का अनुभव करना, उन्हें अपना ही अंश समझना।[19] किन्तु वे मानते हैं कि स्वतंत्रता और समानता पर आधारित एकता–बंधुत्व अभी तक एक अचरितार्थ आदर्श, कोरा शब्द मात्र है। किन्हीं धार्मिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक साधनों से इसे उत्पन्न नहीं किया जा सका है और न ही यह संभव है। इसे मानव की आत्मा में जन्म लेना होगा। इसका अस्तित्व केवल आत्मा में और आत्मा के द्वारा ही होता है, क्योंकि भ्रातृभाव कोई भौतिक संबंध

नहीं है। न ही यह प्राणिक सहयोग या बौद्धिक समझौते की वस्तु है। इन आदर्शों के आध्यात्मिक तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं – "जब आत्मा स्वतंत्रता की मांग करती है, वह स्वतंत्रता उसके आत्म–विकास की अर्थात् मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता में उसके अंतरस्थ भगवान् के विकास की स्वतंत्रता होती है। जब वह समानता चाहती है तो उसकी मांग यह होती है कि स्वतंत्रता सबको समान रूप से प्राप्त हो तथा समस्त मनुष्यों में उसी एक ही आत्मा को, एक ही भगवान् को स्वीकार किया जाए। जब वह भ्रातृभावना के लिए चेष्टा करती है, तो वह आत्म–विकास की समान स्वतंत्रता को एक ऐसे सर्वसमान्य लक्ष्य और जीवन तथा विचार और भाव की एकता पर आधारित करती है जो इस आंतरिक आध्यात्मिक एकता की स्वीकृति पर आश्रित हो।" [20]

ये ऐसे सद्गुण हैं जिनके द्वारा मानव–कल्याण की प्राप्ति आसानी से हो सकती है। इन आदर्शों के द्वारा मानव–समाज का ऐसा नमनीय और प्रगतिशील रूप विकसित हो सकता है जिसमें समस्त जटिल जीवन और उसका विकास प्रतिफलित हो सकेगा। श्री अरविन्द के अनुसार– "आज हमारे पास पूर्णतः स्पष्ट आदर्श और अवस्थाएँ मौजूद हैं। स्वतंत्रता और एकता, सहयोग, मित्रता और यदि हो सके तो भ्रातृत्व की भावना पर निर्मित जीवन–ढ़ांचे में मनुष्यों और राष्ट्रों का आत्मनिर्णय जाति के समान उद्देश्यों और हितों के घनिष्ठ पारस्परिक संबंध की स्वीकृति, एक ऐसे मानव–जीवन की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एकता, जिसमें हम दूसरों के लिए किसी ऐसी वस्तु को अस्वीकार नहीं कर सकते जो हम अपने लिए चाहते हैं – ये ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके बारे में हम एक निश्चित धारणा बना चुके हैं।" [21] यदि हम इन सद्गुणों को प्राप्त कर लेते हैं तो मानव–जीवन में अपने आप ही शुभत्व की प्राप्ति हो जाएगी। अरस्तू ने भी बतलाया है कि मानव–कल्याण ही उच्चतम शुभ है। उनके अनुसार मानव–कल्याण अथवा सर्वोच्च शुभ ऐसा होना चाहिए जो प्राप्य हो अर्थात् मानव–क्रियाओं के द्वारा सिद्ध होने योग्य हो। अतः कल्याण या शुभ आत्मा की वैसी क्रिया है जो सद्गुण के अनुरूप संपूर्ण जीवन में हो। श्रीअरविन्द मानते हैं कि इन सद्गुणों को अपनाकर ही हम परमात्मा तक पहुँच सकते हैं तथा परमात्मा को इस धरती पर अवतरित कर दिव्य–जीवन, एक उच्चतर शुभ की स्थापना कर सकते हैं। यह एक ऐसा मानव–समाज होगा जहाँ सभी मनुष्य ज्ञान–पुरुष होंगे। इस समाज में चेतना शरीर तथा मानस के घेरे में बंधी नहीं रहेगी, परम सत् के पूर्ण अद्वैत रूप की स्पष्ट चेतना रहेगी, जहाँ जीवन पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना एवं पूर्ण आनन्द का जीवन बन जाता है।

एम.आई.जी.-156, आदित्यपुर-2,
सराईकेला-खर्सवान, झारखण्ड-831013

संदर्भ–ग्रंथ

1. बसन्त कुमार लाल, समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1995, पृ0 118।
2. डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, 2003, पृ0 379
3. श्री अरविन्द, मानव चक्र, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, 1995 पृ0 28–9।
4. वही, पृ0 31।
5. वही, पृ0 221–2।
6. वही, पृ0 221–61।
7. वही,, पृ0 221–2 ।
8. वही,, पृ0 42–3; श्री अरविन्द, मानव–एकता का आदर्श युद्ध और आत्मनिर्णय, श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी 1992, पृ0 221।
9. वही,
10. वही, पृ0 58–9।
11. वही, पृ0 60–61।
12. वही, पृ0 276–77।
13. वही, पृ0 328।
14. वही, पृ0 329–30।
15. वही, पृ0 139।
16. वही, पृ 139।
17. वही, पृ 139।
18. वही, पृ 278।
19. वही, पृ 316–17।
20. वही, पृ0 277 ।
21. वही, पृ0 308।

गांधी : आधुनिक या उत्तर-आधुनिक

डॉ. आलोक टण्डन

महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन का यह कथन कि आने वाली पीढ़ी के लिए यह विश्वास करना कठिन होगा कि गांधी ऐसा व्यक्ति भी कभी जन्मा था। आज सच जान पड़ता है क्योंकि गांधी को समझने के जितने वैचारिक सांचे आज तक सामने आये हैं, गांधी उनसे परे जान पड़ते हैं। फिर चाहे उन्हें हिन्दू परम्परा से जोड़कर देखने वाले ए.एल. बाशम[1] हों, भारतीय परम्परा से जोड़कर देखने वाले ए.के. सरन[2] हों, पुरुषार्थ–चतुष्टय से जोड़कर देखने वाले सन्थोनी जे. परेल[3] हों, आलोचक–परम्परावादी मानने वाले आशीश नन्दी[4] हों या राष्ट्रवादी विमर्श के सन्दर्भ में देखने वाले पार्थ चटर्जी[5] हों। कहने का तात्पर्य यह है कि कई दृष्टियों– राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी, प्राच्यवादी, उत्तर–औपनिवेशिक, सबाल्टर्न आदि से गांधी को समझने का प्रयास किया गया है। किन्तु कोई भी दृष्टि उनके साथ पूर्ण न्याय करती नहीं प्रतीत होती। ऐसा ही एक सन्दर्भ आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता का भी है। गांधी द्वारा अपनी पुस्तक *'हिन्द स्वराज'* में पश्चिमी सभ्यता की व्यापक आलोचना से हम सभी परिचित हैं। सवाल उठता है कि क्या इस आलोचना को हम आधुनिकता–विरोध की संज्ञा दे सकते हैं? और यदि यह आधुनिकता का विरोध है तो समर्थन किसका है? क्या यह पूर्व–आधुनिकता की वकालत है या फिर उत्तर–आधुनिकता की ओर संकेत है? आज यह प्रश्न उठना इसलिए भी प्रासंगिक जान पड़ता है क्योंकि इससे न केवल गांधी को समझने में मदद मिलेगी वरन् पश्चिम में आधुनिकता का जो रथ अपनी विसंगतियों के कीचड़ में फंस गया है उसे निकालने के लिए भी एक दृष्टि मिल सकती है। यह दृष्टि भारत ऐसे देश के वासियों के बहुत काम की हो सकती है जिन्होंने अभी आधुनिकता की ओर कुछ ही कदम आगे बढ़ाये हैं।

इससे पहले कि हम गांधी के विचारों को आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता के सन्दर्भ में परखें, हमारे लिये मोटे तौर पर यह समझना भी जरूरी है कि आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता से क्या तात्पर्य है और इनके बीच क्या अन्तर है। विस्तार से इसकी चर्चा करना यहां न सम्भव है और न अपेक्षित, फिर भी

दार्शनिक विमर्श से निकल कर आई उन विशेषताओं को रेखांकित करना जरूरी है जिनके सहारे हम आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता को परिभाषित कर सकते हैं और उसके अन्तर को समझ सकते हैं।

आधुनिकता की कई परिभाषायें हैं। यहां तक कि आज हम आधुनिकता के स्थान पर अलग–अलग सांस्कृतिक सन्दर्भों में विकसित आधुनिकताओं की चर्चा करने लगे हैं। आधुनिकीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया विभिन्न समाजों में आज भी विभिन्न चरणों में है और अपनी–अपनी विशिष्टतायें समेटे हुये है। इस दृष्टि से पश्चिम के औद्योगिक समाजों और पूर्व के औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए संघर्षरत या मुक्त हुए समाजों में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। पश्चिम में जहां आधुनिकता को पूर्व–आधुनिक संरचनाओं एवं मूल्यों से टक्कर लेनी पड़ी वहीं पूर्व में आधुनिकता ही आधुनिकता के विरोध में खड़ी पाई गई है। आज जब पश्चिमी समाज आधुनिकता से उत्तर–आधुनिकता की ओर प्रयाण करता प्रतीत हो रहा है, भारत ऐसे विकासशील समाज एक साथ पूर्व–आधुनिक, आधुनिक और उत्तर–आधुनिक स्थितियों में जीते दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अनेक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ रहा है। साथ ही आधुनिकता से उत्पन्न विसंगतियां भी हैं जिनका कोई ठोस हल आधुनिक हो चुके समाज भी नहीं खोज सके हैं। बौद्धिक विभ्रम के इस कुहासे के आर–पार स्पष्ट देखने के लिए आधुनिकता के मूलभूत तत्वों/सरोकारों/मूल्यों की पहचान जरूरी है।

चूंकि आधुनिकता की कोई अंतिम, सर्वमान्य परिभाषा नहीं है इसलिए इसके मूलभूत तत्वों की सम्पूर्ण सूची बना सकना भी सम्भव नहीं है। फिर भी पश्चिम और पूर्व के सामाजिक अनुभवों के आधार पर हम निम्न विशेषताओं को रेखांकित कर सकते हैं:–

1. तर्कबुद्धि
2. विज्ञान
3. प्रगति की अवधारणा
4. मानवीय कर्तव्य का महत्व
5. आत्म प्रश्नेयता (reflexivity)
6. न्याय, स्वाधीनता और मुक्ति
7. निजी और सार्वजनिक का भेद
8. धर्म–निरपेक्षता
9. राष्ट्र–राज्य की अवधारणा

आधुनिकता के केन्द्र में तर्कबुद्धि (reason) है। यह आलोचनात्मक तर्कबुद्धि ही है जिसके चलते आधुनिकता में आत्म–प्रश्नेयता का गुण समाहित है। तर्कबुद्धि की इस धारणा का मानववाद और कर्ता (Agent) की अवधारणा के साथ गहरा रिश्ता है। आधुनिकता ने व्यक्तीयन (individuation) की प्रक्रिया को गति प्रदान की जिसका परिणाम हुआ सामुदायिक जिन्दगी से आजाद होकर व्यक्ति का एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में उभरना। आधुनिक मनुष्य अपनी नियति का स्वयं निर्माता बन गया।

शुरुआत से ही आधुनिकता का एक अंधेरा पक्ष भी रहा है। ज्यों–ज्यों आधुनिकता की विसंगतियां उजागर होती गईं यह एहसास तीव्र होता गया कि आधुनिकता की महान् योजना में कुछ गम्भीर खामियां हैं। किन्तु तकनीक और माध्यमों के नये वातावरण के बिना उत्तर–आधुनिकता की ओर प्रस्थान सम्भव नहीं था। वस्तुतः उत्तर–आधुनिक ज्ञान की ऐसी अवस्था है जो उच्च विकसित समाजों में पिछले दशकों में बनी है। फ्रांसुआ ल्योतार इसे ही 'पोस्ट–माडर्न' कहते हैं। ल्योतार के अतिरिक्त फूको, जेमेसन, ब्रोदिला, देरिदा आदि इसके प्रमुख विचारक हैं।

आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता में मूल भेद यह है कि आधुनिकता एक महाआख्यान को ठोस और अंततः इतिहास के दिशाहीन बहाव पर हावी करने की कोशिश करती है। मानवतावाद, मार्क्सवाद, उदारवाद ऐसे ही महाआख्यान हैं। आधुनिकता विभेदों का सामना करने की क्षमता नहीं रखती, वह विभेदों के स्थान पर एकरूपता पर बल देती है जबकि उत्तर–आधुनिकता केन्द्रीय राजनैतिक वर्चस्व के विपरीत स्थानीयता पर बल देती है। जिन लोकप्रिय, क्षेत्रीय संस्कृतियों से आधुनिकता अपना रास्ता तोड़ चुकी है, उत्तर–आधुनिकता उनको समर्थन देती है। अतः उन तमाम महान् तथा सार्वभौमिक महावृत्तान्तों के विखन्डन की आवश्यकता है जिन्हें आधुनिकता ने सुदृढ़ किया है।

ज्ञान–मीमांसा के क्षेत्र में तो उत्तर–आधुनिकता ने उपद्रव–सा खड़ा कर दिया है। इसके अनुसार यथार्थ का कोई निरपेक्ष, सार्वभौमिक ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि यथार्थ स्वयं में विषमांगी, खंडित और बहुवचनीय है। इसलिए सार्वभौमिकता, वैषयिकता, तर्कयुक्तता और सत्य की खोज व्यर्थ हैं। ये विभिन्न वर्ग, लिंग, जाति–आधारित समूहों के वर्चस्व को वैधता प्रदान करने के प्रयत्न मात्र हैं। इस दृष्टि से ज्ञान ही नहीं, ज्ञान–अज्ञान के निर्धारण की कसौटी की उपयुक्तता भी इतिहास–सापेक्ष है। अतः वैज्ञानिक विधि न तो निरपेक्ष है और न उसके पास सारी समस्याओं के उत्तर ही हैं। वैज्ञानिक तर्क प्रणाली एकमात्र तर्क प्रणाली नहीं है, अन्य तर्क प्रणालियों से इन्कार नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में उत्तर–आधुनिकतावाद को उसकी तीन मुख्य स्थापनाओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

1. मनुष्य की मृत्यु 2. इतिहास का अंत 3. तत्त्वशास्त्र की समाप्ति

उत्तर–आधुनिकता न केवल मनुष्य के केन्द्रीय स्थान को नकारती है अपितु इस विचार को भी रद्द करती है कि ज्ञान और व्यवहार की परख का पैमाना मानव–चेतना है। जिन तत्वों को मानव–अनुभव के लिए अनिवार्य समझा गया है वे जीवन और समाज के स्वाभाविक तथ्य नहीं, सामाजिक संरचनायें हैं जो निरन्तर बदलती रहती हैं। इस कारण मानव–प्रकृति को भी विखंडन की प्रक्रिया से गुजरना

अनिवार्य हो जाता है। परिणाम आत्म के विघटन के रूप में सामने आता है और वह केन्द्रहीन होकर चिन्हों और आकृतियों में अपनी पहचान खो देता है। जां लांकां के अनुसार, 'चिन्तन और डिसकोर्स के मानसिक शीशाघर के पीछे कोई असली आत्मा नहीं।'

उत्तर–आधुनिक दृष्टि में इतिहास एक नहीं, कई इतिहास हैं। यह दृष्टि भिन्न–भिन्न लघु इतिहासों को वैधता प्रदान करती है। इतिहास के अंत से तात्पर्य मात्र इतना है कि मानव–इतिहास का ऐसा कोई मोड़ नहीं जब उसकी समाप्ति पर सभी विभेद और विभिन्नतायें समाप्त हो जायेंगी और उनमें ऐक्य, साम्य और सन्तुलन कायम हो जायेगा।

यह प्रश्न बार–बार उठाया जाता है कि उत्तर–आधुनिकता क्या आधुनिकता के अंधेरे पक्षों की आलोचना मात्र है या उसके पास कोई सार्थक विकल्प भी है? यदि आत्म–निर्णय से सम्पन्न स्व की व्याख्या ही भ्रामक है तो किस आधार पर नैतिक और राजनैतिक विमर्श सम्भव है? हमारे विचार से आधुनिकता जिस आत्म–परीक्षण के दौर से गुजर रही है, उसी का परिणाम है उत्तर–आधुनिकता। अतः आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता के बीच आत्यंतिक भेद करना उचित नहीं जान पड़ता। उत्तर–आधुनिकता, आधुनिकता का अंत नहीं, उसका पुनर्लेखन ही है।

'हिन्द स्वराज' गांधी के विचारों की प्रतिनिधि पुस्तक है जिसमें उन्होंने पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता की व्यापक समीक्षा की है। अतः आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता से उनके विचारों की संगति जोड़ने के लिए वह एक अनिवार्य पुस्तक है। देखना यह है कि आधुनिकता के जिस संकट की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, क्या गांधी की आलोचना का निशाना भी वही है? आधुनिकता के आरम्भ से ही वे उसके आलोचक भी रहे हैं। प्रश्न यह है कि गांधी की आलोचना उस आलोचना से कितना साम्य रखती है? सवाल यह भी है कि गांधी की आलोचना और विकल्प क्या वैकल्पिक आधुनिकता या उत्तर–आधुनिकता के दायरे में बांधे जा सकते हैं?

सबसे पहले हम *'हिन्द स्वराज'*[6] की सभ्यता–समीक्षा को लें। लेखक कतिपय योरोपीय विचारकों के इस मूल्यांकन को स्वीकार करता है कि आधुनिक सभ्यता एक तरह का रोग है जिसकी पहचान यह है कि यह बाहरी खोजों और शरीर के सुख में ही अपनी सार्थकता और पुरुषार्थ मानती है। उसके अनुसार यह सभ्यता कल्याणकारी नहीं है क्योंकि इसमें नीति के नाम पर अनीति सिखाई जाती है जबकि धर्म–नीति प्रधान सभ्यता ही सच्ची सभ्यता है। सभ्यता से उसका तात्पर्य वह आचरण है जिसमें आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का मतलब है नीति का पालन करना। नीति का पालन करने का मतलब है मन और इन्द्रियों को वश में रखना। *हिन्द स्वराज* के लेखक के अनुसार भारतीय सभ्यता का झुकाव

नीति को मजबूत करने की ओर रहा है और पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से उसके ऐंद्रिक–भोग मूलक सभ्यता के वात्याचक्र में फंस जाने का खतरा है। यहां पर दो बातें साफ दिखाई देती हैं। गांधी उसी महत्वपूर्ण परम्परा की एक कड़ी के रूप में सामने आते हैं जो आधुनिक विज्ञान और आधुनिकता के आरम्भ के समय (17वीं शताब्दी) से ही उसकी आलोचना उसके द्वारा प्रदत्त जीवन–शैली को नैतिक–सांस्कृतिक आधार पर प्रश्नांकित करके करती आई है। इन प्रतिरोधी तत्वों के बारे में क्रिस्टोफर हिल ने अपनी पुस्तक *'The World Turned Upside Down'* में विस्तार से चर्चा की है। कतिपय ऐतिहासिक कारणों से आधुनिकता का विकास पूंजीवाद के विकास के साथ–साथ ही हुआ जिस कारण पूंजीवादी आधुनिकता का स्वरूप तो सामने आया किन्तु आधुनिकता के अन्य संस्करणों की सम्भावना दब गई। दूसरी बात यह है कि वेद–वेदान्त की दुहाई या किसी गौरवशाली अतीत के पुनरावाहन को वे अपनी आलोचना का आधार नहीं बनाते। उनके अनुसार आत्म–संयम की संस्कृति पर आधारित जीवन–प्रणाली इन्द्रियभोगमूलक सभ्यता पर आधारित जीवन–संरचना से श्रेष्ठ है। भारतीय संस्कृति की ताकत सत्याग्रह या आत्मबल या करुणा का बल है। इसी 'सांस्कृतिक आत्मविश्वास' के आधार पर वे न केवल उपनिवेशवाद अपितु आधुनिकता के पश्चिमी माडल का विरोध करते हैं। यहां वे अन्य भारतीय चिन्तकों से अलग खड़े दिखाई देते हैं। क्योंकि अंग्रेजों के न रहने पर भी अंग्रेजी ढंग का शासन उन्हें स्वीकार नहीं था। यहां यह प्रश्न उठाना समीचीन होगा कि जिन नैतिक–सांस्कृतिक मूल्यों को अपनी आलोचना का आधार गांधी ने बनाया उनकी आधुनिकता के साथ कितनी संगति है? कहीं वे पूर्व–आधुनिक या उत्तर–आधुनिक तो नहीं हैं? इसके लिए हमें आधुनिकता के अन्य आयामों पर गांधी–विचार की समीक्षा करनी होगी।

गांधी द्वारा यंत्रों के बारे में की गई समालोचना से कई बार यह भ्रम पैदा हो जाता है कि वे यंत्र मात्र के ही विरोधी हैं। किन्तु यह सच नहीं है, उनका विरोध यंत्रों से नहीं, उनके दुरुपयोग से है। वे उनका उपयोग समस्त मानव–जाति के समय और श्रम की बचत के लिए करना चाहते थे, न कि किसी खास वर्ग के धन–लाभ के लिए। चरखा भी एक यंत्र ही है और उन्होंने सिंगर मशीन का स्वागत ही किया था। अतः उन्हें विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विरोधी नहीं माना जा सकता। अपने उपनिवेश–विरोधी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए उन्होंने प्रेस, टेलीफोन, टेलिग्राम, रेलगाड़ी, जहाज आदि आधुनिक साधनों का प्रयोग किया। उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरा उद्देश्य तमाम यंत्रों का नाश करने का नहीं है, बल्कि उनकी हद बांधने का है। दरअसल वे एक वैकल्पिक प्रौद्योगिकी के हिमायती थे जिसमें प्रौद्योगिकी का चयन एक नैतिक सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इसलिए जहां उन्होंने आधुनिक उद्योगवाद से उत्पन्न अनेकों विकृतियों की आलोचना की वहीं कुटीर उद्योग–धन्धों पर आधारित व्यवस्था की वकालत भी की। वे आधुनिक

उद्योगों में व्याप्त मनुष्य के शोषण और अमानवीयकरण से परिचित थे जिसके समाधान हेतु उन्होंने ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया। उसकी व्यावहारिक असफलता से वे विज्ञान–जनित आधुनिकता के विरोधी नहीं हो जाते।

आधुनिक सभ्यता के आधारों को सड़ा हुआ कहकर आलोचना करने के बावजूद गांधी उसे पूरी तरह निरस्त नहीं कर देते। वे उसकी तीन महान् उपलब्धियों की प्रशंसा करते हैं।[7] पहली है अन्वेषण की वैज्ञानिक स्पिरिट, दूसरी है प्रकृति की गहरी समझ और उस पर मनुष्य का उ क नियन्त्रण तथा तीसरी है जीवन के संगठनात्मक पक्ष का विकास। किन्तु उनकी दृष्टि में मनुष्य की समुचित और सन्तुलित अवधारणा के अभाव में ये तीनों उपलब्धियां मनुष्य का ज्यादा भला नहीं कर पा रहीं। तर्कबुद्धि को महत्व देना उचित है किन्तु नैतिकता और राजनीति और धार्मिक मसलों में तर्क की सीमा भी स्वीकारनी होगी। प्राकृतिक रहस्यों के ज्ञान से मनुष्य के स्वास्थ्य, आयु में बढ़ोत्तरी तो हुयी किन्तु संयम की कमी और संसाधनों का क्षरण, हिंसा की बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आया। इसी तरह संगठनात्मक ढांचे को अधिकाधिक महत्व देने से उसमें नैतिक प्रतिरोध की सम्भावनायें नष्ट हो जाती हैं। गांधी के अनुसार आधुनिक सभ्यता की लाभकारी सम्भवनायें भी आधारभूत गलत संरचनात्मक ढांचे के कारण फलीभूत नहीं हो पातीं। अन्य भारतीय चिनतकों से गांधी इस नाते भिन्न हैं कि वे नहीं मानते कि आधुनिक सभ्यता की उपलब्धियों को उनके पीछे छिपे वैचारिक ढांचे से अलग करके भारतीय सभ्यता के साथ समन्वित किया जा सकता है। एक भौतिकवादी सभ्यता द्वारा अन्वेषित मशीन सांस्कृतिक दृष्टि से निरपेक्ष नहीं कही जा सकती। भिन्न वैचारिक आधारों पर खड़ी सभ्यता को अपनी जरूरतों के हिसाब से वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग भिन्न प्रकार से करना होगा। यही बात आधुनिक सभ्यता की अन्य उपलब्धियों पर भी लागू होती है। गांधी के यहां चयन का प्रश्न परम्परा बनाम आधुनिकता के बीच नहीं है अपितु दोनों के पुनर्सृजन का है। गांधी इस अर्थ से आधुनिक हैं कि वे परम्परा और आधुनिकता दोनों को समालोचना का विषय मानते हैं, किसी को यूं ही स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। आत्म–प्रश्नेयता, हम ऊपर बता आये हैं कि आधुनिकता के मूलभूत सरोकारों में से एक है।

आधुनिक सभ्यता की गांधी द्वारा की गई आलोचना यद्यपि कई मानों में रूसो, रस्किन, टाल्सटाय, नीत्शे और मार्क्स द्वारा की गई आलोचना से साम्य रखती है किन्तु दो कारणों[8] से यह भिन्न और मौलिक भी है। पहला, एक उपनिवेश के सदस्य होने के कारण औपनिवेशिक दासता, दमन और शोषण से उनका सीधा परिचय था जिस कारण पूंजीवादी आधुनिकता की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति या जिसे हम आधुनिकता का काला पक्ष कहें, उनके सामने अधिक स्पष्ट था। दूसरा, एक प्राचीन और समृद्ध सभ्यता के उत्तराधिकारी होने के कारण वे आधुनिकता की अपनी समालोचना को एक बौद्धिक–नैतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके।

चूंकि गांधी एक पराधीन और पारम्परिक समाज की ओर से 'आधुनिक पश्चिम' के साथ संवाद कर रहे थे इसलिए औपनिवेशिक आधुनिकता की उनकी आलोचना और विकल्प उलझन भरा हो यह समझ में आता है। गांधी के राजनैतिक दर्शन में परम्परा और आधुनिकता के अनेक पहलू इस तरह गुंथे हुए हैं कि उनको अलगाया नहीं जा सकता। वे आत्म–निर्भर ग्राम–समाजों के पुराने आदर्श और राष्ट्रीय लक्ष्यों के बीच तालमेल बिठाने का प्रयत्न करते हैं। इसे ही राबर्ट यंग जैसे विद्वान् प्रति–आधुनिकता (counter modernity) की संज्ञा देते हैं। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि गांधी की आधुनिकता–विरोधी कार्यप्रणाली भी अनेक रूपों में आधुनिकता के स्रोतों पर भी निर्भर थी। अतः यदि हम औपनिवेशिक आधुनिकता के विरोध और विकल्प के प्रयत्नों को 'प्रति–आधुनिकता' न कहें तो हमें आधुनिकता की एक अलग अवधारणा स्वीकार करनी होगी– साम्राज्यवाद विरोधी आधुनिकता। गांधी इसी के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

लेकिन गांधी अपने को केवल साम्राज्यवाद– विरोध और मानसिक विउपनिवेशीकरण तक ही सीमित नहीं रखते। उनकी चुनौती केवल स्वदेशी नहीं, स्वराज्य है। उन्होंने स्वराज्य में 'अन्य' के लिए भी स्थान बनाया और इस तरह कोलोनाइजर और कोलोनाइज्ड दोनों की स्वाधीनता को स्वीकृति प्रदान की। वस्तुतः *हिन्द–स्वराज* आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना मात्र नहीं है अपितु वह एक वैकल्पिक मूल्य–व्यवस्था पर आधारित वैकल्पिक स्थिति की रचना का प्रयास भी है। यहां यह प्रश्न उठाना समीचीन होगा कि वह मूल्य दृष्टि / व्यवस्था क्या पूर्व–आधुनिक है या आधुनिकता का नया संस्करण या उत्तर–आधुनिक?

उत्तर–आधुनिक विचारकों की दृष्टि में सत्य खोज का विषय नहीं बल्कि लगातार चलने वाली प्रक्रिया से सृजित होकर सामने आता है। इसलिए सार्वभौमिक, निरपेक्ष सत्य जैसा कुछ भी नहीं है। ज्ञान और सत्य की सापेक्षता असंदिग्ध है। गांधी भी जब सत्य के प्रति प्रायोगिक खुलेपन, उसकी बहुलता, गतिशीलता, स्थानीयता की बात करते हैं और सभी विचारधाराओं की सापेक्षता के संदर्भ में दूसरे की वैचारिक दृष्टि के प्रति सहनशीलता की वकालत करते हैं तो वे उत्तर–आधुनिक विचारकों के करीब जान पड़ते हैं। किन्तु यह समानता सतही है क्योंकि गांधी का अंतिम उद्देश्य निरपेक्ष सत्य– ईश्वर को प्राप्त करना है। सापेक्ष सत्य उसी निरपेक्षता को पाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

सत्य के अलावा गांधी–विचार में अहिंसा भी एक महाआख्यान की तरह है जो अहं को शून्य किये बिना सम्भव नहीं। अहं–शून्यता से सम्पूर्ण जीव–जगत् के प्रति अद्वैत–भाव का उद्भव होता है। इसलिए गांधी मनुष्य के बीच सारभूत एकता में विश्वास करते हैं, जिस कारण स्वयं की मुक्ति को सभी की मुक्ति के साथ जोड़कर देखते हैं। उत्तर–आधुनिक चिन्तन में इसका पूर्ण अभाव है।

उत्तर–आधुनिक चिन्तन में व्यक्ति का निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है। स्व–अस्मिता कोई अऐतिहासिक या लोकोत्तर चीज नहीं है, यह पूरी तरह सामाजिक और सांस्कृतिक है। 'स्व' का निर्माण 'महत्वपूर्ण अन्यों', के साथ अन्तःक्रिया के दौरान होता है जो सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतीकों, अर्थों को विषयी (subject) तक पहुंचाने के माध्यम की भूमिका निभाते हैं। जन्म से मृत्यु तक एक ही पहचान अनुभव करने के पीछे वह आख्यान है जो हम स्वयं के बारे में गढ़ते हैं। चूंकि अस्मिता शक्ति–संरचनाओं का उत्पाद है इसलिए उत्तर–आधुनिक चिन्तक शोषण और दमन के खिलाफ परिधि पर चलने वाले सबाल्टर्न आन्दोलनों का समर्थन करते हैं।

गांधी भी शोषण के विरोध में निम्न वर्गों के विभिन्न आन्दोलनों का समर्थन करते हैं फिर चाहे वे अछूतों के मंदिर–प्रवेश के बारे में हो या अहमदाबाद मिल मजदूरों का आन्दोलन हो या फिर नमक–सत्याग्रह हो। इसी तरह महिला–मुक्ति आन्दोलन वे सन्दर्भ में भी गांधी उत्तर–आधुनिकता के करीब आते दिखाई देते हैं और प्राचीन नियम–कानूनों का विरोध करते हैं। महत्वपूर्ण समानता यह भी है कि गांधी किसी धार्मिक पुस्तक को अतिपवित्र, अनालोचनीय नहीं मानते, उसे सत्य की खोज में एक जिज्ञासु की भांति प्रयोग करते हैं और अपने विवेक से परम्परा की आलोचना करते हैं। इस तरह उनके लिए परम्परा एक गतिशील अवधारणा है, जो समय के साथ बदलती रहती है। स्थानीय परम्पराओं, अस्मिताओं, सापेक्ष सत्यों का महत्व वे स्वीकार करते हैं। लेकिन गांधी का स्वराज्य और विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उत्तर–आधुनिकता के विखण्डन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। जहां उत्तर–आधुनिकता सिद्धान्तकार भिन्नता पर जोर देते हैं वहीं गांधी भिन्नता के पीछे छिपे एकत्व को महत्व प्रदान करते हैं। उनके लिए एकता प्राकृतिक है और भिन्नता बनाई हुई है। गांधी की दृष्टि में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति एक सचेतन प्राणी है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बगैर किसी सभ्य समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। व्यक्ति की उत्तर–आधुनिक धारणा के विपरीत गांधी के लिए मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुन सकता है, उसके अनुसार निर्णय ले सकता है और अपनी नियति का निर्माण स्वयं कर सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि गांधी–विचार में कहीं भी मनुष्य की मृत्यु या तत्वशास्त्र की समाप्ति की बात नहीं है जैसा कि उत्तर–आधुनिक सिद्धान्त की मान्यता है।

उत्तर–आधुनिक चिन्तक ज्ञानोदय के तर्कबुद्धिवाद के खिलाफ हैं। उनका कहना है कि ज्ञानोदय ने तर्कबुद्धि को सर्वोपरि मानकर जिस समाज का निर्माण किया है वो अपने स्वभाव में यांत्रिक (instrumental) है। इस यांत्रिक तर्क से तार्किक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है जो बहुत सारी समस्याओं की जड़ में है।

गांधी भी तर्कबुद्धि के वर्चस्व के विरुद्ध हैं। वे मानते हैं कि अनुभव, भावनायें और अन्तःप्रज्ञा भी तर्क के समान ही महत्वपूर्ण हैं। वे आधुनिकता के आदर्शों, विज्ञान, तर्कबुद्धि और वस्तुनिष्ठता के वर्चस्व का प्रतिरोध करते हैं। उन्हीं शब्दों में –

"I have come to the fundamental conclusion that if you want something really important to be done you must not merely satisfy the reason, you must move the heart also. The appeal to reason is more to the head."[9]

इस तरह गांधी तर्कबुद्धि को पूरी तरह निरस्त नहीं करते बल्कि उसकी सीमा दर्शाते हैं। उनकी दृष्टि से दिल और दिमाग के बीच अभेद्य दीवार नहीं बनाई जा सकती। तार्किकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता एक दूसरे में घुले–मिले रहते हैं। केवल तर्कबुद्धि सही/गलत का निर्धारण करने के लिए नाकाफी है। सत्याग्रह का उनका दर्शन इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। इसी प्रकार वे ईश्वर के प्रति विश्वास को भी तर्कबुद्धि से परे की चीज मानते हैं। उनकी दृष्टि में विश्वास तर्क से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसके जरिये मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है, किन्तु केवल तर्क से उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः सत्य का निर्णय केवल तर्क द्वारा सम्भव नहीं।

लेकिन गांधी और उत्तर–आधुनिक चिन्तकों द्वारा तर्क की खिलाफत के पीछे एक–से कारण नहीं हैं। गांधी तर्कबुद्धि को अत्यधिक महत्व देने के खिलाफ हैं। दरअसल उनका उद्देश्य एक ऐसी विचार–प्रणाली विकसित करना है जिसमें तर्क और भावना के बीच सन्तुलन हो, दोनों को स्थान मिले और उनका अपना–अपना महत्व हो। ऐसा नहीं है कि तर्कबुद्धि के पास देने को कुछ भी नहीं है। गांधी तार्किकता का उपयोग अतार्किक परम्पराओं– जैसे छुआदूत या बाल विवाह के विरोध में करते हैं। वे ये तो मानते हैं कि तर्क सत्य का एकमात्र निर्धारक नहीं हो सकता किन्तु साथ ही वे तर्क का न्यूनतम मानदण्ड नैतिकता के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में कुछ चीजें, जैसे प्रेम, विश्वास, क्षमा, दया, करुणा आदि मुख्यतः तर्क के उत्पादन नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में –

"I plead not for the suppression of reason but an appreciation of its inherent limits".[10]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि गांधी और उत्तर–आधुनिक चिन्तकों के विचारों में कई समानतायें दिखाई पड़ती हैं किन्तु गहराई से विचार करने पर हम उनकी अवधारणाओं और उद्देश्यों में व्यापक अन्तर पाते हैं। अतः हम गांधी को उत्तर–आधुनिकता के अन्तर्गत नहीं रख सकते। किन्तु यहीं यह प्रश्न उठता है कि यदि आधुनिकता की गांधी द्वारा की गई आलोचना उत्तर–आधुनिकता की वकालत नहीं है तो फिर उसे किस श्रेणी में रखा जाय? क्या वह पूर्व–आधुनिक है? या वे आधुनिकता का नवीन संस्करण विकसित करना चाहते हैं? इसके लिए

हमें इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा कि आधुनिकता की आलोचना का गांधी का पैमाना क्या है और स्वदेशी–स्वराज और सर्वोदय के उनके दर्शन का वैचारिक आधार क्या है?

हमारे उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि गांधी के साथ पूर्व–आधुनिक, आधुनिक या उत्तर–आधुनिक ऐसे लेबल लगाना व्यर्थ है। नया और पुराना, भारतीय और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य, सभी मिलकर उनके विचारों को अर्थ प्रदान करते हैं। तो क्या हम सर अर्नेस्ट बारकर[11] की तरह यह माने लें कि "The mixture was the essence" और "Being more things than one" ही एकमात्र लेबल है जो गांधी के साथ न्याय करता प्रतीत होता है। लेकिन इस मान्यता के साथ दिक्कत यह है कि यह गांधी को मात्र एक पुल (bridge) या बिचौलिया (reconciler) के रूप में देखती है, गांधी के विचार के विभिन्न तत्व किस तरह एक सुसंगत सामन्जस्यपूर्ण सम्पूर्णता में एक दूसरे से जुड़े हुये हैं इस पर कोई रोशनी नहीं डालती। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास सन्थोनी जे. परेल[12] की पुस्तक *"Gandhi's Philosophy and the Quest for Harmony"* के रूप में सामने आया है। उनके अनुसार गांधी को समझने की कुंजी उनके द्वारा पुनर्व्याख्यायित पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। यही है जिसे गांधी प्राचीन भारतीय सभ्यता का मूलाधार, उसका जीनियस स्वीकार करते हैं जो उसे अन्य सभ्यताओं से अलग पहचान देता है। जिस सांस्कृतिक आत्मविश्वास के साथ गांधी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हैं और जिसके आधार पर वे नये समाज की रचना करना चाहते हैं, उसका स्रोत पुरुषार्थ का सिद्धान्त ही है। किन्तु गांधी ने इस सिद्धान्त में कई परिवर्तन भी किये। पहला, पुराने सिद्धान्त में से लिंग–पक्षपात को मिटाना। दूसरा, यह बताना कि पुरुषार्थ की साधना मनुष्यों का अनोखा व्यवहार है जो उन्हें अन्य जीवों से अलग करता है। तीसरा, कर्म और भाग्य को जीतने में पुरुषार्थ की भूमिका पर जोर देना। चौथा, अर्थ–पुरुषार्थ को वह महत्व प्रदान करना जो उसे पहले कभी भी नहीं मिला था। पांचवां, पुरुषार्थ के इस नये सिद्धान्त को अपने दर्शन के वैचारिक ढांचे के रूप में स्वीकार करना।

यह तो सही है कि गांधी कोई व्यवस्थित दार्शनिक नहीं थे और न अपने कर्म और विचार के पीछे छिपे दर्शन को अनावृत करने का कोई प्रयास उन्होंने किया। यह काम तो बाद के सिद्धान्तकारों का है। किन्तु प्रो. परेल की थीसिस सत्य के कितने करीब है यह विद्वानों के बीच अभी चर्चा का विषय है। यह प्रो. के.जे. शाह[13] के मूल विचार का ही विकास है। यहां उसके परीक्षण का समय और स्थान नहीं है किन्तु इतना तो तय है कि गांधी हमें एक ऐसा विवेक–मंत्र देने का प्रयास करते हैं जिसके आलोक में हम परम्परा, आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता की न केवल समालोचना कर सकते हैं अपितु उनका नवसृजन भी कर पाते हैं। हमारे सामने प्रश्न परम्परा, आधुनिकता या उत्तर–आधुनिकता में से किसी एक के चयन

या स्वीकार का नहीं रह जाता अपितु सभी को एक साथ स्वीकार का हो जाता है। लेकिन सभी को गांधी की मूल्यांकन की कसौटी पर खरा उतरना होगा, फिर चाहे वह उनका पुरुषार्थ का पुनर्व्याख्यायित सिद्धान्त हो या कोई और। अंत में हम कह सकते हैं कि गांधी एक वैकल्पिक सभ्यता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं जिसमें पूर्व–आधुनिक, आधुनिक और उत्तर–आधुनिक तीनों धाराओं का संगम है जिनको अलगाना आसान नहीं है। आखिर सभ्यता से उनका तात्पर्य 'good conduct' से ही तो है और यह किसी एक सिद्धान्त या वाद की जागीर नहीं। हम चाहें तो उन्हें भारतीय आधुनिकता या आधुनिक भारतीयता की खोज का एक पथिक मान सकते हैं।

53, अशराफ टोला, हरदोई (उ.प्र.)

संदर्भ

1. *ए.एल. बाशम, 'ट्रेडीशनल इन्फ्लुएन्सेज आफ द थाट आफ महात्मा गांधी' इन एशेज आन गान्धियन पालिटिक्स ऑफ रौलट सत्याग्रह, (सम्पादक), रवीन्द्र कुमार, आक्सफोर्ड, क्लेरेनडन प्रेस, 1971*
2. *ए.के. सरन, गान्धी एण्ड कन्सेप्ट आफ पालिटिक्स : टुवर्ड्स ए नार्मन सिविलाइजेशन गांधी मार्ग, 11 फरवरी 1980, पृष्ठ 675–726*
3. *एन्थोनी जे. परेल, गान्धीस फिलासफी ऐन्ड क्वेस्ट फार हारमोनी, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 2006.*
4. *आशीष नन्दी, द इन्टीमेट एनिमी : लास ऐण्ड रिकवरी आफ सेल्फ अन्डर कोलोनियलिज्म, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1980*
5. *पार्थ चटर्जी, नेशनलिस्ट थाट ऐन्ड द कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1986.*
6. *मो.क. गान्धी, हिन्द स्वराज, (अनु.) अमृत लाल ठाकोर दास नानावती, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1999*
7. *भीखू पारिख, गान्धीज पोलिटिकल फिलासफी : ए क्रिटिकल इक्जामिनेशन, मैकमिलन प्रेस, पृष्ठ 31.*
8. *वही, पृष्ठ 33*
9. *वही, पृष्ठ 146*
10. *यंग इंडिया, 27 जून 1939*
11. *सर अनेस्ट बारकर, गांधी एज ब्रिज ऐन्ड रिकान्सिलर, इन राधाकृष्णन् (सम्पा) महात्मा गांधी : एशेज एन्ड रिफ्लेक्शन आफ हिज लाइफ ऐन्ड वर्क, जैको पब्लि. हाउस बम्बई, 1995, पृष्ठ 41–42*
12. *उपरोक्त, पृष्ठ VII-XI*
13. *के.जे. शाह, पुरुषार्थ ऐन्ड गांधी, इन गांधी ऐन्ड द प्रजेन्ट ग्लोबल क्राइसिस (सम्पा) रामश्रय राय, भारतीय उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला, 1996, पृ. 155–161*

नेहरू के ऐतिहासिक समन्वयवादी चिंतन में विज्ञानवाद, अध्यात्मवाद और समाजवाद

डॉ. रंजय कुमार

पं. जवाहर लाल नेहरू न तो मार्क्स के विश्व–दृष्टिकोण का अनुसरण करते हैं, न गांधी के। उनका अपना अलग दर्शन है। मार्क्स मूर्त्त मानवीय शक्तियों एवं सर्जनात्मक प्रवृत्तियों और तद्जन्य भौतिक सामाजिक–आर्थिक शक्तियों एवं मानवीय सम्बन्धों को ही उनकी पारस्परिक अन्तर्क्रियाशीलता के पहलू में समाज और सभ्यता की निर्धारक शक्तियां मानता है तथा उनकी क्रांतिकारी संभावनाओं में विश्वास करता है। नेहरू इतिहास की अपनी व्याख्या में मार्क्स के इस सिद्धान्त से अवश्य नयी रोशनी पाते हैं जो अंधेरे स्थलों को रोशन करती है, परन्तु वे जीवन और विश्व के प्रति मार्क्सवादी विश्व–दृष्टिकोण नहीं अपनातेः मार्क्स की भांति वे दुनियाँ की वास्तविकता को उल्टी हुई नहीं पाते अपनाते। क्रांति का समर्थन उन्होंने केवल सैद्धांतिक तौर पर किया है। मार्क्स के विपरीत नेहरू आध्यात्मिक प्रेरणा या अन्तर्दृष्टि की महत्ता को स्वीकार करते हैं। इतिहास में वे मानव–प्राणात्मा (spirit) या जीवनता की भूमिका को ही निर्णायक पाते हैं– और इस प्राणात्मा को उदात्त और अजेय, सर्जनात्मक और साहसिकता–पूर्ण बताते हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि यद्यपि हम धरती पर रहते हैं, हम तारों भरे आकाश से आते हैं।[1] दुनिया में रहस्यवादी हुए हैं जिन्हें आत्म–वंचना से ग्रसित मूर्ख नहीं कहा जा सकता। साथ ही वे संगठित धर्म को जनता की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति के लिए बाधक मानते हैं। प्रचलित अर्थ में वे धर्म को स्वीकार करते हैं। क्योंकि यह आध्यात्मिक या आभ्यंतरिक मूल्यों से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यदि सत्य का संधान धर्म का लक्ष्य हो तो वह उन्हें स्वीकार होगा।[2] यद्यपि नेहरू ने अपने को स्याद्‌वादी कहा था, प्रारंभिक वर्षों में भी उन्हें वैसे किसी रहस्यात्मक सत्य या शक्ति में आस्था थी जिसकी चाहत मानव के गुह्य आभ्यंतर में छिपी हुई होती है और जिस कारण वह विज्ञान या दर्शन से भी अंतिम रूप से संतुष्ट नहीं हो पाता।

नेहरू वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। बुद्धिवाद और विज्ञानवाद से ही भारतीयों को अंधविश्वासों एवं इतिहास के कूड़े करकट के

मानसिक बोझ से मुक्त किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति उच्च मानवीय मूल्यों पर आधारित थीः सत्य की खोज, सत्य की खातिर कठोर तप और अनुशासन के जीवन का अंगीकार, आनन्द और अभय पर बल, सत्य की गुह्यता और विविधता का बोध, यह घोषणा कि सत्य एक है परन्तु जानकर लोग उसे विविध अभिव्यक्तियां प्रदान करते हैं (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति), समस्त प्राणियों के लिए करुणा–भाव, मानव की मानव के रूप में गरिमा, संकीर्ण मतवाद या धार्मिक मतान्धतावाद का अस्वीकार आदि। इन मूल्यों को हमें अपने दृष्टिकोण में समाहित करना चाहिए।[3] परन्तु जीवनता गतिशीलता का नाम हैः नवीन सत्यों को अंगीकार करने को हमें निरंतर तैयार रहना चाहिए। विश्व में जो आधुनिकतम चिंतन या विज्ञान है उसे भी हमें सर्जनात्मक ढंग से आत्मसात् करना होगा। परन्तु नेहरू जानते हैं कि जीवन के गहन पहलुओं, उसकी सौंदर्यात्मक और अन्तर्तम आध्यात्मिक स्पृहणाओं के साथ विज्ञान न्याय नहीं कर सकता, न ही दर्शन हमारी प्रवृत्तियों और जिज्ञासाओं को परितृप्त कर सकता है।

नेहरू के अनुसार, यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमारे बौद्धिक उन्नयन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, आंतरिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए आध्यात्मिक श्रेयों और भूतातीत सत्ताओं में आस्था भी आवश्यक लगती है, अन्यथा जीवन लक्ष्य–हीन और दिशा–हीन बन जाता है। हम परमात्मा में विश्वास करें या न करें, पदार्थ में अन्तर्निहित सर्जनात्मक जीवनदायिनी शक्ति में विश्वास नहीं करना असंभव मालूम होता है।[4] इस तरह नेहरू बुद्धि और आस्था, विज्ञान और अध्यात्म दोनों में समन्वय द्वारा जीवन के प्रकट और गहन पहलुओं के विकास में विश्वास करते हैं। हमें अपने आपसे, दूसरों से और व्यापक पर्यावरण से, अपने को सामंजित करना होगा। बाहरी और भीतरी, वैयक्तिक, सामाजिक, समस्त पहलुओं में जीना ही जीवन की मांग है। विज्ञान की आलोचना–बुद्धि के साथ–साथ अध्यात्म की श्रद्धा आवश्यक है।[5] वेदान्त से प्रभावित नेहरू मानते हैं कि सत्य का संधान, आनन्द की उपासना और अभय– जीवन के महत्वपूर्ण मूल्य हैं। वे विवेकानन्द के इस विचार से प्रभावित हैं कि अपने आप में विश्वास सबसे बड़ा धर्म है। वे भारतीयों पर गरीबी, पिछड़ेपन, अंधविश्वास, आलस्य, दीनता, छुआछूत आदि के लिए किये गये विवेकानन्द के प्रहार से भी प्रभावित हैं, विशेषकर उनके 'दरिद्रनारायण' के आदर्श से। विवेकानन्द की ही भांति नेहरू विज्ञान और अध्यात्म तथा रूहानियत के समन्वय में मानवता का प्राण पाते हैं।

नेहरू उदात्त राष्ट्रवादी हैं। भारत उनकी दृष्टि में, उच्च मानवतावादी संस्कृति का देश रहा है। सत्य, स्वतंत्रता, सद्भावना, सहनशीलता, अनेकता में एकता, सर्जनात्मकता, चिंतन की साहसिकता आदि भारतीय संस्कृति के मूल्य रहे हैं। नेहरू इन मूल्यों की नैतिक नींव पर ऐसे भारत का निर्माण चाहते हैं जो –

1. औद्योगिक और प्राविधिक दृष्टि से विकसित हो;
2. सैनिक दृष्टि से सशक्त हो;
3. राजनीतिक दृष्टि से जनतंत्र का अनुसरण करता हो;
4. सांस्कृतिक दृष्टि से अनेकता में एकता को चरितार्थ करता हो;
5. विचारवादी दृष्टि से समाजवाद हो;
6. निरंतर विकासशील हो;
7. विश्व में शांति और सुरक्षा की खातिर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देता हो;
8. गुट–निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम
   करता हो, शांति तथा सहयोग की शक्तियों को प्रोत्साहित करता हो;
9. सामाजिक स्तर पर धर्म–निरपेक्षता का अनुसरण करता हो;
10. विकास हेतु भौतिक एवं मानवीय प्रसाधनों के योजनाबद्ध दोहन के प्रति समर्पित हो;
11. आधुनिकता के अच्छे आदर्शों पर चलता हो; और
12. शांति[8] तथा क्रांति दोनों के प्रति प्रतिबद्ध हो।

नेहरू पर वेदान्त और विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा है। गांधी के सम्पर्क में आने पर यह प्रभाव और भी गहरा हुआ है। बुद्धिवाद और विज्ञानवाद की ओर उनका आकर्षण इंग्लैण्ड में पैदा हुआ और बर्नाड शॉ तथा बर्ट्रेण्ड रसेल के प्रभाव में आकर वे समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए। गांधी जी के प्रभाव में आकर कांग्रेस ने देश की आर्थिक समस्याओं पर बल देना शुरू किया और नेहरू इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। किसानों के बीच घूमने से उनकी समाजवादी चेतना और विकसित हुईः उन्होंने आत्म–कथा में लिखा है कि किसानों का दुःख–दैन्य देखकर उन्हें दुःख भी हुआ, शर्म भी– शर्म इस बात पर कि वे कितने आराम का जीवन जी रहे थे और शहर की उस क्षुद्र राजनीति में निमग्न थे जो भारत के अर्द्ध–नग्न (ग्रामीण) निवासियों की भारी संख्या की उपेक्षा करती थी; उन्हें शर्म आयी दुःखी भारत की अधोगति और गरीबी पर। भारत का एक नया, सदमा पहुंचानेवाला चित्र उनकी आंखों के सामने नाच गया– दर्दनाक और चुनौती भरा चित्र– दमित, दयनीय, नग्न और अकाल–पीड़ित असंख्य भारतीयों का चित्र।[9] प्रतिक्रिया–स्वरूप किसानों के उद्धार में ही नेहरू को समाजवाद की भारतीय सारवत्ता दिखायी पड़ी। इस चित्र से उनमें उत्तरदायित्व का वह गहन बोध पैदा हुआ जिससे वे भयभीत हो उठे। गांधी जी के शांति और प्रेम, आत्म–निर्भरता और स्वतंत्रता, दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अहिंसक संघर्ष के आदर्शों से नेहरू अत्यधिक प्रभावित हुए।

नेहरू का राजचिंतन जनतांत्रिक समाजवाद में आस्था से विशेषित है। गरीबी और पिछड़ेपन की समस्याओं की गम्भीरता को देखते हुए नेहरू को क्रांतिकारी समाजवाद का समर्थक होना चाहिए। परन्तु साम्यवाद से जुड़े हिंसा, अधिकारवाद, रेजिमेंटेशन के कारण यह रास्ता उन्हें स्वीकार्य नहीं। वे ऐसे साम्यवाद को नहीं चाहते जो व्यक्ति की स्वंतत्रताओं का दमन करता है। वे मानते हैं कि साम्यवाद मानव आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं सुरक्षा प्रदान करता है। परन्तु इसके द्वारा स्वतंत्रता का दमन किये बिना ही, अर्थात् जनतांत्रिक व्यवस्था के अधीन ही मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।[10] शर्त यही है कि हमारी दृष्टि सामाजिक हो और सामाजिक प्रयोजन के प्रति निष्ठा हमारी समस्त गतिविधियों को प्रेरित एवं रंजित करती हो। इसके लिए हमें समग्र जनसमुदाय के कल्याण के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध होना होगा। नेहरू इस तरह कल्याणकारी राज्य और जनतांत्रिक शासन को मिलाकर चलने में विश्वास करते हैं। प्राधिकारवाद, जो साम्यवाद से जुड़ा है और अनियंत्रित निजी उद्योग, दोनों अतिशयताओं से बचना होगा। हमें संग्राही वृत्ति को सामान्य ध्येय से प्रेरित सहकारी भावना द्वारा विस्थापित करना होगा।[11]

नेहरू के अनुसार हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य कल्याणकारी राज्य और समाजवादी अर्थव्यवस्था है। इन लक्ष्यों को राष्ट्रीय आय की वृद्धि एवं वस्तुओं और सेवाओं तथा पूर्ण रोजगार की व्यवस्था के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता। वर्तमान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण काफी नहीं है : उत्पादन–वृद्धि एवं समृद्धि का निर्माण आवश्यक है। साथ ही वस्तुओं और सेवाओं का न्यायपूर्ण वितरण भी महत्वपूर्ण है। अधिक–से–अधिक उत्पादन और अधिक–से–अधिक रोजगार, यही रास्ता है। इनके बिना न तो समाजवाद संभव है, न कल्याणकारी राज्य। उत्पादन जनता के लिए होना चाहिए और जनता में उपभोग वस्तुओं की खरीद–क्षमता होनी चाहिए।

नेहरू उत्पादन–साधनों एवं वितरण–प्रक्रियाओं के सामाजिक नियंत्रण में आस्था रखते हैं। उत्पादन अधिक–से–अधिक बढ़े, इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र के साथ–साथ निजी क्षेत्र का बने रहना भी महत्वपूर्ण है। विकास की पूर्ण गति निजी क्षेत्र के अस्तित्व एवं प्रोत्साहन का समर्थन करती है, शर्त यही है कि निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र से समंजित किया जाय और निर्णय–निर्माता अपने लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखें।

नेहरू मानते हैं कि मूलतः हमारी समस्याएं सभ्यता की समस्याएं हैं; धर्म से अवश्य नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन प्राप्त होता है परन्तु सामाजिक कुरीतियां और अंधविश्वास धर्म की मूल भावना को पराभूत कर डालते हैं। साम्यवाद भी एक हद तक धर्म की भूमिका अदा करता है। परन्तु कुल मिलाकर, साम्यवाद विफल हो जाता है और मानव–स्वभाव की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं की उपेक्षा

करता है। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पहलुओं की उपेक्षा कर यह मानवों को व्यवहार के मूल्यों और मानवों में बुरी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है। साम्यवाद एवं साम्यवाद के विरोधियों से जुड़ी हिंसा के विपरीत नेहरू सहनशीलता और अनुनयन की पद्धति के समर्थक हैं, विशेषकर आज की परिस्थितियों में हिंसा भयंकर रूप से विनाशकारी हो गयी है। भारत में हिंसात्मक उपागम सार्थक सिद्ध नहीं होगा क्योंकि यहां अनेक विखण्डनकारी प्रवृत्तियां क्रियाशील पायी जाती हैं। पुनः, गलत साधनों से सही परिणामों को हम प्राप्त नहीं कर सकते।[12]

जनतंत्र और समाजवाद अपने आप में कुछ उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन हैं। ये वहीं तक महत्वपूर्ण हैं जहां तक ये व्यक्ति को स्वार्थपरता के धरातल से ऊपर उठाकर सहयोग की भावना से व्यापक हित के लिए सक्रिय बनाते हैं। एक अच्छे समाज का निश्चय ही बल कर्त्तव्यों पर होगा, न कि अधिकारों पर, और शिक्षण को भी नूतन दिशा प्राप्त होगी। विश्व जैविक समग्रता है जहां सप्राण और निष्प्राण (जड़) सबके लिए स्थान है क्योंकि सबमें दिव्य प्रेरणा का स्पन्दन होता है अथवा उस बुनियादी ऊर्जा या प्राण–शक्ति का जो ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक है। इन विचारों के आधार पर नेहरू जनतंत्र से जुड़े कल्याणकारी राज्य का समर्थन करते हैं। गरीबी हटाने के लिए कठिन परिश्रम और उत्पादन–वृद्धि आवश्यक है, साथ ही न्यायपूर्वक वितरण भी आवश्यक है। समाजवादी दिशा में आयोजित ढंग से बढ़ते हुए ही हम भारत जैसे देश में सार्वजनिक कल्याण का लक्ष्य साकार कर सकते हैं। अंततः मानवों की गुणवत्ता ही महत्वपूर्ण होती है। राष्ट्र की समृद्धि के निर्माण और सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में मानव ही निर्णायक होते हैं। पश्चिमी अर्थशास्त्र या मार्क्सवादी अर्थशास्त्र हमारी वर्तमान समस्याओं से निपटने में हमारी सहायता नहीं कर सकता। हमें अपनी परिस्थितियों एवं समस्याओं के लिए दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाते हुए, अपना मार्ग ढूंढना है। अपनी समस्याओं के आर्थिक पहलुओं पर विचार करते हुए हमें शांतिपूर्ण साधनों को और विशेषकर इस वेदांतिक आदर्श को नहीं भूलना है कि प्राणधारा ही समस्त अस्तित्ववान् सत्ताओं का आंतरिक आधार होती है।[13]

आज का मानव मानसिक उलझनों और कश्मकशों का शिकार है। विकास और जीवन की पद्धति निर्धारित करने के पूर्व हमें इस मानव–जीवन में तीव्र परिवर्तन के तथ्य को ध्यान में रखना है। विशेषकर भौतिक जगत् पर मानव–मस्तिष्क की पकड़ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु बाहरी परिस्थितियों पर विजय के बावजूद मनुष्य नैतिक तन्तु या आत्म–संयम से अपने को वंचित पा रहा है। भौतिक जगत् पर विजय प्राप्त करते हुए वह स्वयं अपने 'स्व' पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता। विशेषकर विज्ञान का विकास मानवी अवबोध के क्षितिज के बाहर जा रहा है। फलतः सभ्यता मानो मानसिक थकान और पराजय की अनुभूति से गुजर रही है। बुद्धिवाद

ने अवश्य धर्म को विस्थापित–सा कर दिया है, परन्तु यह कोई अनुशासन उत्पन्न नहीं कर सकता है। बुद्धिवाद, अपने समस्त गुणों के बावजूद विषयों और समस्याओं की सतह से आगे नहीं देख पाता– उनके आंतरिक मर्म को नहीं भेद पाता। स्वयं विज्ञान वैसे चरण में पहुंच गया है, जहां विराट नयी संभावनायें और गहनतायें उभरती हुई प्रतीत होती हैं। साथ ही वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप शक्ति और ऊर्जा की महती अतिरिक्तता पैदा हुई है जिसका उपयोग बहुधा गलत उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है। विज्ञान और अध्यात्म के बीच समंजन का निर्माण आवश्यक है। देश के लिए भौतिक समृद्धि के निर्माण पर बल देते हुए हमें मानव–स्वभाव में अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व को भी महत्व प्रदान करना है। हमें ऐसा जीवन–दर्शन चाहिए जो हर व्यक्ति में आध्यात्मिक श्रेय के लिए भी प्रतिबद्धता पैदा करे। इस प्रतिबद्धता के बिना न तो जनतंत्र सार्थक होगा और न ही कल्याणकारी राज्य। हमारे लिए यह आस्था महत्वपूर्ण होगी कि जीवन का हर पहलू दिव्य सत्ता के प्रभाव से ज्योतित या प्रेरणा के स्पंदन से प्रेरित है, क्योंकि तब हम जाति, सम्प्रदाय या वर्ग के संकीर्ण निष्ठाओं से मुक्त हो सकेंगे और जीवन की समस्याओं के प्रति अधिक सहनशीलता और अवबोध का रुख अपना सकेंगे।[14]

समाजवाद के प्रति अपनी सशक्त आस्था प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि समाजवाद मात्र आर्थिक सिद्धांत नहीं, बल्कि जीवन–दर्शन है – नये जीवन की पद्धति है। समाजवाद समाज की समस्याओं के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और पद्धति का अनुसरण है। समाजवादी व्यवस्था वह है जिसमें सभी नागरिकों को अवसर की समानता प्राप्त है और हर नागरिक के लिए सुन्दर जीवन जीने की संभावना है। समाजवाद के आदर्श को साकार करने के लिए समृद्धि का निर्माण आवश्यक है : समाजवाद निर्धनता नहीं, धन के न्यायपूर्ण वितरण की मांग करता है।

भारत और विश्व की समस्याओं के समाधान की एक मात्र कुंजी समाजवाद में है। गरीबी, व्यापक बेरोजगारी, अधोपतन एवं दासता के अंत का एकमात्र मार्ग समाजवाद है, यद्यपि भारत में राष्ट्र की प्रतिभा और परिस्थितियों के अनुरूप इसका स्वरूप निर्धारित करना होगा। समाजवाद राजनीतिक और सामाजिक संरचना में दूरगामी क्रांतिकारी परिवर्तनों– जमीन और उद्योगों में निहित स्वार्थों के विनाश की मांग करता है, समाजवाद एक नयी सभ्यता है। नेहरू ने कहा कि स्वाधीनता केवल राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का दरवाजा खोलती है।[15]

नेहरू ने आत्म–कथा में भी समाजवाद को ही भारत एवं विश्व की समस्याओं का एकमात्र मार्ग बताया था: एक ऐसा समाज जो मानवता को उच्चतर भौतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर आयोजित ढंग से संगठित करता हो, जो सहयोग,

निःस्वार्थता, सेवा–भावना, सही करने की आकांक्षा, सद्भाव और प्रेम और आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण, अंततः एक विश्व–व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध हो। दमन का प्रयोग निःसंदेह आवश्यक होगा परन्तु इसका प्रयोग क्रूरता या घृणा के भाव से नहीं, बल्कि बाधा हटाने के आवेश–मुक्त विचार द्वारा किया जाना चाहिए।

समाजवाद के लिए संस्थाओं के साथ–साथ दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आवश्यक है। निजी क्षेत्र में जो प्रतिभा, अनुभव एवं आर्थिक क्षमता है उन्हें बाहर से नियमन द्वारा राष्ट्रीय हित के अनुरूप ढाला जाना चाहिए। इस तरह, सार्वजनिक क्षेत्र की प्रबलता एवं राज्य की विकास–नीति के ढांचे के अन्दर ही नेहरू निजी क्षेत्र की भूमिका निर्धारित करते हैं। निजी क्षेत्र में वे एकाधिकारों के विकास के विरुद्ध हैं क्योंकि इससे सार्वजनिक प्रगति और समानता की स्थापना बाधित होगी।[16]

आर्थिक विकास के साथ–साथ नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा भी महत्वपूर्ण है क्योंकि समाजवाद अंततः व्यक्तित्व एवं चरित्र का निर्माण उच्चतर आदर्शों के स्तर पर करना चाहता है। इन मूल्यों की प्रतिष्ठा करके ही संकीर्ण स्वार्थपरता एवं संग्राहिकता की चपेट से समाज को मुक्त किया जा सकेगा और व्यक्ति एवं समाज दोनों के पूर्ण विकास के लिए प्रेरणा निर्मित की जा सकेगी।[17]

निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि नेहरू निरंतर पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरोधी और समाज–विकास में समाजवादी लक्ष्यों के समर्थक रहे हैं। उनका दृढ़ विश्वास रहा है कि भारत के नव–निर्माण एवं जनता के सामाजिक उद्धार के ऐतिहासिक कार्य को समाजवाद द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। नेहरू ने समाजवाद के लिए जिस अनुकूल पर्यावरण का निर्माण किया कांग्रेस न तो उस पर्यावरण का महत्त्व समझ सकी, न ही उसका दोहन कर पायी। नेहरू समाजवाद में विश्वास करते थे परन्तु वे 'आत्मनिष्ठ' समाजवादी थेः उन्होंने न तो आवश्यक समाजवादी संगठन का निर्माण किया, न ही उसके लिए कोई आन्दोलन किया। राष्ट्रीय स्वतंत्रता और समाजवाद, दोनों के लिए साथ–साथ संघर्ष चलाया जाना एक कठिन कार्य था और स्वभावतः इसमें नेहरू को सीमित सफलता ही मिली। परन्तु जो भी सफलता प्राप्त हुई वह उनकी निजी उपलब्धि कही जाएगी। नेहरू के चिंतन में यह दोष था कि वे सर्वहारा संघर्ष का आधार लिए बिना ही बाहर या ऊपर से– राज्य के प्रयास से समाजवाद को साकार करना चाहते थे। जैसा लेनिन ने कहा था, सामाजिक शक्तियों एवं राजनीतिक वर्गशक्तियों के विकास के बिना समाजवादी व्यवस्था का निर्माण संभव नहीं है।[18] परन्तु नेहरू ने इसे संभव मान लिया। वस्तुतः वे समाजवादी आस्था के बावजूद अपने उदारवादी एवं बुर्जुवा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से मुक्त नहीं हो सके थे।

नेहरू के अनुसार जीत और हार की विधि है : सही ढंग से लड़ते हुए हार जाना गलत ढंग से लड़कर जीतने से अच्छा है। गलत साधनों से प्राप्त जीत का महत्व नहीं रह जाता, क्योंकि तब यह संदिग्ध हो जाता है कि घोषित लक्ष्य कहां तक सही है। हमें बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालना है। परन्तु जाति–प्रथा के अति कठोर हो जाने तथा अन्य कारणों से हिन्दू समाज स्थैतिक बन गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अंग्रेजों ने अवसरवादी पंडितों से मिलकर संहिताकरण द्वारा इसे और स्थैतिक बना दिया। यह स्थैतिकता विधेयन की उपज है अतः प्रति–विधेयन द्वारा ही हटायी जा सकती है। भारत में राजनीतिक क्रांति हुई, आर्थिक क्रांति का भी प्रारंभ किया गया। साथ ही, सामाजिक क्रांति भी महत्वपूर्ण है।

नेहरू के ऐतिहासिक चिंतन में जनतंत्र, निष्पक्ष निर्वाचन, संसद की गरिमा, धर्म–निरपेक्षता, प्रतिबद्ध लोक सेवा, विकास एवं आयोजन पर बल, विज्ञान और प्रविधि का विकास, मानव मूल्यों के प्रति निष्ठा, विश्व स्तर पर अन्याय, जातिवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, सैनिक होड़ आदि का विरोध, न्याय, सहयोग एवं शांति की खातिर गुट–निरपेक्षता एवं पंचशील को प्रोत्साहन, तृतीय विश्व के लिए न्याय एवं विकास के लिए राष्ट्रों के बीच समेकता का निर्माण, जनतंत्र और समाजवाद का समन्वय, अनेकता में एकता के आदर्श के आधार पर राष्ट्र–निर्माण आदि का सराहनीय योगदान है। परन्तु नेहरू क्रांतिकारी होते हुए भी क्रांतिकारी नहीं हैं। उनका दृष्टिकोण समाजवादी होते हुए उदारवादी जड़ों से मुक्त नहीं हो पाया है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' में आस्था नेहरू को सहिष्णु बनाती है। उनकी विफलता की जड़े उनकी उदारता और महानता में हैं। फिर भी, भारत को आधुनिक राष्ट्र बनाने, धर्म–निरपेक्ष, समाजवादी, जनतांत्रिक राज्य बनाने एवं विश्व के रंचमंच पर भारत को सम्मान एवं सर्जनात्मक भूमिका के साथ प्रतिष्ठित करने का श्रेय नेहरू को ही है।

एम.ए., पी–एच.डी.(इतिहास)
बी.आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

संदर्भ

1. *जवाहर लाल नेहरू, स्पीचेज, खं. 2, पृ. 428.*
2. *डोरोथी नार्मन: नेहरू: द फर्स्ट सिक्स्टी ईयर्स, खं. 1, पृ. 89.*
3. *जवाहर लाल नेहरू, द डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ. 541–42.*
4. *वही, पृ. 546.*
5. *वही.*

6. वही, पृ. 547.
7. चलपथ राव, गांधी एण्ड नेहरू, पृ. 96.
8. वही, पृ. 97.
9. आत्मकथा, पृ. 52.
10. जवाहरलाल नेहरू, इंडियाज इंडेपेंडेंस एण्ड सोशल रिवोल्यूशन, विकास, पृ. 127.
11. वही.
12. जवाहर लाल नेहरू, द बेसिक अप्रोचः ए.आई.सी.सी. इकोनामिक रिव्यू, 15 अगस्त 1958.
13. विन्सेंट शीन, नेहरू : द ईयर्स ऑफ पॉवर, विक्टर गोलांग्ज, लंदन, पृ. 294.
14. अशोक मेहता, रिफ्लेक्शन्स ऑफ सोशलिस्ट एरा. पृ. 406.
15. बी.वी. सिंह, नेहरू ऑन सोशलिज्म, पृ. 5–7.
16. मेंडे टी. कन्भेनसन्स विद नेहरू, लंदन, 1956, पृ. 115–116.
17. प.उ.स. 39, पृ. 135.
18. अलेग्जेंडर शिशरोव, जवाहर लाल नेहरू एण्ड द इंडियन नेशनल कांग्रेस स., पृ. 49.

पूँजीवादी राष्ट्रवाद एवम् सर्वहारा अंतरराष्ट्रवाद : मार्क्स की दृष्टि में

डॉ. ब्रज भूषण शर्मा

कार्ल मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण वर्तमान युग का सारतत्त्व है। विश्व घटना–क्रम के जटिल और अन्तर्विरोधी स्वरूप के बावजूद दो बुनियादी प्रवृत्तियाँ– शांति और प्रगति की शक्तियाँ अपना दबाव बढ़ा रही हैं। विश्व–समाजवाद की स्थितियाँ और मजबूत होती जा रही हैं और राष्ट्रों के भविष्य पर उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है और दूसरी ओर, पूँजीवादी विचारक और राजनीतिक हठपूर्वक विश्व–पूँजीवाद की स्थितियों को सुदृढ़ करने का, शक्तियों के संतुलन को अपने पक्ष में बदलने का और सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया धीमी करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दो दुनियां, दो व्यवस्थाएँ, आर्थिक क्षेत्र में, राजनीति में और विचारधारा के क्षेत्र में एक–दूसरे का सामना कर रही हैं। विचारधारा के टकराव में जो अत्यन्त संगीन और समझौता–हीन है, पूँजीवादी वर्ग अपनी सारी आशाएँ, सर्वोपरि, राष्ट्रवाद पर टिकाए हुए है।

ऐतिहासिक रूप से पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा के बीच के टकराव का अर्थ सदा राष्ट्रवाद और अन्तरराष्ट्रवाद के बीच संघर्ष रहा है। लेनिन ने लिखा है–

"पूँजीवादी राष्ट्रवाद और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद ये दो बेमेल, परस्पर–विरोधी नारे हैं जो सारी पूँजीवादी दुनिया के दो विशाल वर्ग–खेमों के अनुरूप हैं और इनसे राष्ट्रीय पटल पर दो नीतियाँ (नहीं, दो विश्व–दृष्टिकोण) व्यक्त होते हैं।"[1]

कार्ल मार्क्स का कहना है कि संघर्ष के द्वारा सिर्फ सामाजिक परिवर्तन ही नहीं होता है बल्कि पूरी दुनिया में परिवर्तन होता है। कहने का अर्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन विश्व–परिवर्तन में परिणत हो जाता है। जब सर्वहारा वर्ग का शासन कायम हो जाता है तो पूरे विश्व में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। उत्पादन के सभी साधनों पर सर्वहारा वर्ग का नियंत्रण हो जाता है और उत्पादन से जो पूँजी जमा होती है उसका समान रूप से वितरण किया जाता है। फिर अतिरिक्त पूँजी (surplus capital) किसी पूँजीपति की जेब में नहीं जाती है क्योंकि सर्वहारा के

शासन में कोई पूँजीपति होता ही नहीं है। वह एक वर्गहीन समाज होता है और इसीलिए राज्य की सारी सम्पत्ति पर सबों का समान अधिकार होता है।

वर्गहीन समाज की स्थापना और सर्वहारा के हाथ में शासन ही साम्यवाद का उद्देश्य है। मार्क्स सामाजिक संघर्ष को उस मुकाम तक पहुँचाना चाहते हैं जिसमें ऐसी स्थिति पैदा हो सके। मार्क्स का कहना है कि जब ऐसी स्थिति आ जाती है तो राज्य की सीमा भी समाप्त हो जाती है। राष्ट्रवाद पूँजीवादी अवधारणा है। इसीलिए मार्क्स पूँजीवादी राष्ट्रवाद की जगह सर्वहारा अंतरराष्ट्रवाद की बात करते हैं। अन्तरराष्ट्रवाद मजदूरों का विश्व–दृष्टिकोण, विचारधारा और दर्शन मार्क्सवाद का अभिन्न अंग है जो हमारे युग की अत्यन्त प्रगतिशील क्रान्तिकारी शिक्षा है। सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद का अर्थ है क्रान्तिकारी आन्दोलन में तथा समाजवाद और साम्यवाद के निर्माण में एक विचारधारा, एक नीति, एक सामाजिक रिश्ता, एक चेतना और सभी जातियों के मजदूरों तथा उनके मित्र वर्गों की वर्गीय एकता और भ्रातृभावना।

कार्ल मार्क्स सामाजिक संघर्ष को राष्ट्रीय और फिर अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष का रूप देना चाहते हैं। इसके लिए वे दुनिया भर के मजदूरों की एकता की बात करते हैं। वे दुनिया भर के मजदूरों को एक होने का आवह्न करते हुए कहते हैं– 'दुनिया के मजदूरों एक हो।' मजदूर वर्ग और उसकी राजनीति पार्टियों की राष्ट्रीय इकाइयों के बीच समानता, और इन पार्टियों की स्वेच्छित एकता; सामान्यतः मजदूर वर्ग तथा मेहनकश जनता की गतिविधि में अन्तरराष्ट्रवाद और देशभक्ति का तथा अन्तरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय तत्वों का संयोग एक देश के मजदूर वर्ग के हितों के ऊपर अन्तरराष्ट्रीय मजदूर वर्ग के हितों को तरजीह; और पूँजीवादी राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय अलगाव के विचारों के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष– ये हैं सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद के निहित सिद्धांत।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी राष्ट्रवाद सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद का विरोधी तत्त्व है। वह पूँजीपति वर्ग की विचारधारा, नीति और गतिविधि का अंग है। राष्ट्रवादी विचारों का राष्ट्रीय चेतना और मानसिकता पर काफी प्रभाव हो सकता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रीय विचारों को पूज्य बना देता है जिनसे समाज का पूरा तानाबाना निर्धारित होता है। पूँजीवादी राष्ट्रवाद में निहित प्रतिक्रियावादी विचारों से राष्ट्रीय संकुचित मनोवृत्ति और अलगाव पैदा होता है और राष्ट्रों के बीच शत्रुता तथा घृणा फैलती है। यह तथ्य कि सहतत्त्व में और सामाजिक भूमिका में, सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद और पूँजीवादी राष्ट्रवाद एक–दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध हैं, उस पृष्ठ–भूमि में पूर्वनिर्धारित होते हैं जिनमें कि वे पैदा होते हैं।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि राष्ट्रवाद एक सामाजिक विकास का परिणाम है, राष्ट्रीय विकास का नहीं, जैसा कि पूँजीवादी विचारक कहा करते हैं। वह

व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रभुत्व का परिणाम है। राष्ट्रवाद सत्ता के लिए संघर्ष में पूँजीवाद के प्रमुख अस्त्रों में से एक है। पूँजीवाद जैसे ही सत्तारूढ़ हुआ, वैसे ही मार्क्स के शब्दों में वह स्वयं अपने दावों को एक राष्ट्रीय बाना पहनाने में कुशल बन गया। जब वस्तुगत रूप से आज कोई आम राष्ट्रीय काम पूरे नहीं किये जाते हैं, तब भी पूँजीवादी वर्ग इस बाने का उपयोग करता है। राष्ट्रवाद और राष्ट्र–दम्भ की सहायता से वह मेहनतकश जनता की वर्ग–चेतना के स्थान पर राष्ट्रीय चेतना वैठाने तथा इस प्रकार सभी वर्गों के हितों में एकता होने का एक आभास पैदा करने का प्रयास करता है।

अपने समय में मार्क्स ने इस समस्या को समझा था और चेतावनी देते हुए कहा था –

"राष्ट्र–दम्भ मेहनतकश वर्गों के उस अन्तरराष्ट्रीय सहयोग को रोकने का साधन है जो उनकी मुक्ति की पहली शर्त्त है।"[2]

अतीत की तरह आज भी पूँजीवादी विचारक दावा करते हैं कि सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध होता है। मगर यह सही नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय हित राष्ट्रीय हित के विरुद्ध नहीं होते। उनमें सच्चा प्रगतिशील सामाजिक और राष्ट्रीय विकास–क्रम अभिव्यक्त होता है जो सभी राष्ट्रों में समान रूप से उपस्थित होता है।

समाज–विकास के मौजूदा चरण तथा समाजवादी देशों के वास्तविक जीवन से इसकी स्पष्ट पुष्टि होती है। जो अन्तरराष्ट्रवादी अलग–अलग देशों में सबसे पहले मजदूर वर्ग के हितों और आकांक्षाओं के प्रतीक रूप में प्रकट हुआ और इन देशों के विकास के एक पहलू के रूप में परिपक्व हुआ, वह सामाजिक प्रगति का एक अधिकाधिक रूप से स्वतंत्र तत्त्व बनता जा रहा है जिसमें स्वयं अपने नई मजदूर वर्ग की इतिहास–निर्मात्री भूमिका के सभी पहलुओं का प्रतिनिधित्व है। अलग–अलग राष्ट्रों के विकास से सीधा संबंध रखते हुए और इस विकास में हर प्रकार से योगदान करते हुए, अन्तरराष्ट्रवाद साथ ही साथ, दृढ़ता से राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़ता जा रहा है, और परिपक्व समाजवाद के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से, एक ऐसा तत्त्व बनता जा रहा है जिससे सामाजिक प्रगति निर्धारित होती है ।

कार्ल मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा अन्तरराष्ट्रीय परिवर्तन में बदल जाती है। मार्क्स ने राष्ट्रवाद को पूँजीवादी विचारधारा का पोषक कहा है और अन्तरराष्टवाद को सर्वहारा विचाराधारा का समर्थक कहा है। उनका कहना है कि जब मेहनतकश मजदूर संगठित होकर संघर्ष करता है तो उससे समाज में एक बुनियादी और क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। फिर एक नये समाज का निर्माण होता है जो पिछले सभी समाज और सभ्यता से भिन्न और अलग होता है। लेकिन समाज का यह परिवर्तन सिर्फ समाज तक ही सीमित नहीं होता है बल्कि वह सभी राष्ट्रीय

सीमाओं को पार करके अन्तरराष्ट्रीय परिवर्तन में बदल जाता है । इस तरह से सामाजिक–परिवर्तन विश्व–परिवर्तन का कारक बन जाता है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी विचारक और राजनीतिज्ञ राष्ट्रवाद की सराहना करने के लिए सब प्रकार के तर्क देते हैं। उनमें से कुछ का कहना है कि हमारे युग में राष्ट्रवाद ही वह आधार है जिसपर मानवता की एकता स्थापित हो रही है। कुछ अन्य विचारकों का मत है कि आज निर्विवाद रूप से राष्ट्रवाद सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति है और कुछ अन्य का मत है कि मानवता विश्व–व्यापी सर्व–राष्ट्रवाद के युग में रह रही है। इन मतों से स्पष्ट है कि उनके प्रणेताओं में यथार्थ–बोध की कमी है, क्योंकि राष्ट्रीय तत्त्वों के महत्त्व के बावजूद अदम्य सामाजिक परिवर्तन और अन्तरराष्ट्रीय संबंधों का सुदृढ़ीकरण मानवता की प्रगति पर अत्यन्त निर्णयकारी प्रभाव डाल रहे हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राष्ट्रवाद के खतरे को कम करके आँकना चाहिए ।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की गति तेज होने से अन्तरराष्ट्रवाद का कार्य–क्षेत्र लगातार बढ़ता जा रहा है। वह न सिर्फ अलग–अलग देशों के सामाजिक विकास के पहलुओं को अपने दायरे में लेता जा रहा है, बल्कि उनके राष्ट्रीय जीवन की सीमाओं को भी पार करता जा रहा है। अन्तरराष्ट्रवाद का सिद्धांत सारी दुनिया के मजदूर वर्ग की गतिविधियों को रेखांकित करता है, और समाजवादी समुदाय की गतिविधियों को, विशेष रूप से जो इन्हीं सिद्धांतों पर फल–फूल रहा है। वह विश्व–क्रान्तिकारी प्रक्रिया की नदी का निर्माण करने वाली सभी धाराओं की एकता की बुनियाद है। राष्ट्रवाद का मुकाबला करने का काम आज अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में पहले से अधिक महत्त्व ग्रहण करता जा रहा है। इजारेदारी की हुकूमत के खिलाफ मजदूर वर्ग के संघर्ष में उनमें फूट डालने के लिए पूँजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का उपयोग करता है।

मार्क्सवाद की शास्त्रीय कृतियों में बताया गया है कि अपने विकास–क्रम में पूँजीवाद अनिवार्यतः राष्ट्रीय अलगाव की व्यवस्था नष्ट कर देता है। पूँजीपति वर्ग की इच्छा के विरुद्ध वह मजदूरों के बीच वस्तुगत अन्तरराष्ट्रवादी संबंधों को जन्म देता है और सर्वहारा पार्टियों, मजदूरों को अन्तरराष्ट्रवादी भावना में शिक्षित करते हुए इन संबंधों को सुदृढ़ करता है। मार्क्स ने सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद के सिद्धांत को जीवनदायी सिद्धांत कहा है। उन्होंने बल दिया है कि विभिन्न देशों के मजदूरों को न सिर्फ अपने विचारों और विश्वासों में, बल्कि कार्यवाही में भी भाई और साथी होना चाहिए।

लेनिन ने कहा है – "बात अन्तरराष्ट्रवाद की घोषणा कर देने की नहीं है, बल्कि घोर परीक्षा की घड़ी तक में अमल के अन्दर अन्तरराष्ट्रवादी हो सकने की है।" [3]

कार्ल मार्क्स का कहना है कि साम्राज्यवादी पूँजीपति वर्ग यह जानता है कि अन्तरराष्ट्रीय मजदूर–आन्दोलन पहले से अधिक खतरनाक है, यह आन्दोलन अब विश्व–समाजवादी व्यवस्था और राष्ट्रीय मुक्ति–आन्दोलन के साथ सामंजस्य स्थापित कर कार्यवाही करता है। कोई आश्चर्य नहीं कि सामाजिक पैंतरेवाजी की गति अब वैचारिक कौशल से तेज की जाती है जिसमें राष्ट्रवाद को उभारने का पैंतरा भी शामिल है जिसके बारे में पूँजीवादी विचारक खुलेआम कहते हैं कि वह समाजवाद और मजदूर वर्ग के बढ़ने के रास्ते में एक दीवार है।

कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करने के लिए राष्ट्रीय मुक्ति–आन्दोलन और जन–आन्दोलनों का समन्वय कर उसे संघर्ष में तेजी से बढ़ने का आव्हान करते हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रीय मुक्ति–आन्दोलन के मौजूदा चरण में, जबकि अनेक जनगण राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष से सामाजिक विकास का नया दौर शुरू करने के संघर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, यह आवश्यक है कि नवोदित राष्ट्रीय राज्यों के संयुक्त मोर्चे के अन्दर अतिवाद और षडयंत्र, अलगाववाद और पृथकतावाद जैसे भटकावों को तथा अन्तरराष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन और विश्व–समाजवाद के अलग हो जाने की प्रवृत्तियों को दूर किया जाये, क्योंकि ऐसी प्रवृत्तियों से सामाजिक प्रगति के अवसर, वस्तुगत रूप से, चूक सकते हैं और स्वेच्छा या अनिच्छा से साम्राज्यवदी प्रतिक्रियावाद से गठजोड़ बन सकता है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि मानवता का एक नयी, सच्चे रूप में प्रगतिशील, समाज–व्यवस्था में संक्रमण सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद के झंडे के नीचे तभी संभव है जब राष्ट्रवादी के भ्रष्टकारक प्रभाव को दूर किया जाता है। सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद समाज के निर्माण में जैसे–जैसे अधिकाधिक प्रभावशाली पहलू बनता जाता है, तैसे–तैसे उसकी भूमिका बढ़ती जाती है। अन्तरराष्ट्रवाद अभी एक सशक्त अस्त्र बन गया है, और विश्व क्रान्तिकारी प्रक्रिया तथा उसकी पथ–प्रदर्शिका शक्ति विश्व–कम्युनिस्ट आन्दोलन– की एकता की नींव है। मजदूर वर्ग ही नहीं, उसके मित्र भी अपनी नीति तथा सामाजिक अमल को सर्वहारा अन्तरराष्ट्रवाद के सिद्धांत पर आधारित करते हैं। सामाजिक प्रगति के लिए जनता के संघर्ष में अन्तरराष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद, जनतंत्र और समाजवाद के नये स्वरूप संयुक्त रूप से उदित हो रहे हैं। सभी देशों के सर्वहाराओं की तथा उसके जन–संगठनों की वर्ग–मैत्री किसानों, बुद्धिजीवियों, युवकों, अनगिनत जनवादी संगठनों और शान्ति तथा प्रगति के लिए काम कर रही सभी शक्तियों के साथ संबंधों के विस्तार तथा उसकी कार्यवाही संबंधी एकता के विभिन्न स्वरूपों की स्थापना से पुष्ट हो रही है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि आज तक जिन–जिन वर्गों का पलड़ा भारी हुआ है उन सब ने अपने पहले से हासिल दर्जे को मजबूत बनाने कि लिऐ समाज को अपनी अधिकरण प्रणाली के अधीन करने की कोशिश की है। सर्वहारा वर्ग अपनी

अब तक की अधिकरण–प्रणाली का और उसके साथ–साथ पहले की सभी अधिकरण प्रणालियों का अन्त किये बिना समाज की उत्पादक शक्तियों का स्वामी नहीं बन सकता। सर्वहारा वर्ग के पास जोड़ने और सुरक्षित रखने के लिए अपना कुछ भी नहीं है; उसका जीवन–लक्ष्य निजी सम्पत्ति की पुरानी सभी गारन्टियों और जमानतों को नष्ट कर देना है। पहले के तमाम ऐतिहासिक आन्दोलन अल्प–मत के आन्दोलन रहे हैं या अल्पमत के फायदे के लिए रहे हैं, किन्तु सर्वहारा आन्दोलन विशाल बहुमत का विशाल फायदे के लिए होने वाला चेतन तथा स्वतंत्र आन्दोलन है। हमारे वर्तमान समाज का सबसे निचला स्तर सर्वहारा वर्ग, शासकीय समाज की तमाम ऊपरी परतों को पलटे बिना हिल तक नहीं सकता, किसी प्रकार अपने को ऊपर नही उठा सकता।

कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष यद्यपि अन्तरवस्तु की दृष्टि से नहीं तथापि रूप की दृष्टि से शुरू में राष्ट्रीय संघर्ष होता है। हर देश के सर्वहारा वर्ग को, जाहिर है, पहले अपने ही पूँजीपतियों से निपटना होगा। कम्युनिष्टों और मजदूर पार्टियों में सिर्फ यह अन्तर है कि विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के तमाम भेद–भावों को छोड़कर पूरे सर्वहारा वर्ग के समान हितों की ओर इशारा करते हैं और उन्हें सामने लाते हैं। पूँजिपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष जिन विभिन्न मंजिलों से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है उनमें हमेशा और हर जगह वे समग्र आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः एक ओर, व्यावहारिक दृष्टि से कम्युनिष्ट हर देश की मजदूर पार्टियों के सबसे उन्नत और कृत–संकल्प अंश होते हैं, ऐसे अंश जो औरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं, दूसरी ओर, सैद्धांतिक दृष्टि से सर्वहारा वर्ग के विशाल जन–समुदाय की अपेक्षा इस अर्थ में वे श्रेष्ठ हैं कि वे सर्वहारा आन्दोलन के आगे बढ़ाने के रास्ते को उसके हालत और साधारणतः उसके अन्तिम नतीजों की सुस्पष्ट समझ रखते हैं।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि कम्युनिष्टों का तात्कालिक ध्येय वही है जो दूसरी मजदूर पार्टियों का है– यानि सर्वहारा को एक वर्ग के रूप में संगठित करना, पूँजीवादी प्रभुत्व का तख्ता उलटना और राजनीतिक सत्ता पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार कायम करना । कम्युनिष्टों के सैद्धांतिक निष्कर्ष जगत्–सुधारक होने वाले इस या उस व्यक्ति द्वारा ईजाद किये गये या ढूंढ़ निकाले गये विचारों या सिद्धांतों पर कतई आधारित नहीं हैं, वे केवल मौजूदा वर्ग–संघर्ष से या हमारी नजरों के सामने हो रही सभी राष्ट्रों और देशों के मजदूरों की अन्तरराष्ट्रीय एकता, ऐतिहासिक गतिविधि से उत्पन्न यथार्थ संबंधों को सामान्य शब्दों में व्यक्त करते हैं। मौजूदा सम्पत्ति–संबंधों को मिटा देने की बात कम्युनिज्म की निराली विशेषता हरगिज नहीं है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि कम्युनिष्टों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे स्वदेश और राष्ट्र की भावना को मिटा देना चाहते हैं। श्रमजीवियों का कोई देश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे कौन छीन सकता है? चूँकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में प्रधान वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, खुद अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित करना है, अतः इस हद तक उसका स्वयं एक राष्ट्रीय चरित्र है जो कि इस शब्द के पूँजीवादी अर्थ में नहीं। पूँजीपति वर्ग के विकास, वाणिज्य की स्वाधीनता, विश्व–बाजार और उत्पादन–प्रणाली में तथा तदनुरूप जीवन की अवस्थाओं में एकरूपता के कारण जन–गण के राष्ट्रीय भेद–भाव और विरोध दिनों–दिन मिटते जाते हैं ।

सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होने पर ये और भी तेजी से मिटेंगे। सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि कम–से–कम प्रमुख सभ्य देश मिलकर संयुक्त कार्यवाही करें । जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण खत्म होगा उसी अनुपात में एक राष्ट्र के अन्दर वर्गों का विरोध खत्म होगा और उसी अनुपात में राष्ट्रों का आपसी भेद–भाव भी दूर होगा। संक्षेप में कम्युनिष्ट सर्वत्र मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के खिलाफ हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं। इन तमाम आन्दोलनों में प्रमुख प्रश्न के रूप में सम्पत्ति के प्रश्न को, चाहे उस समय जिस अंश में भी विकास हुआ हो, सर्वोपरि स्थान देते हैं।

अन्त में, वे सर्वत्र तमाम देशों की जनवादी पार्टियों के बीच एकता और समझौता कराने की कोशिश करते हैं। कम्युनिष्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। वे खुलेआम ऐलान करते हैं कि उनके लक्ष्य समस्त वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं के बलपूर्वक पलट के द्वारा ही सिद्ध किये जा सकते हैं; कम्युनिष्ट–क्रान्ति के भय से शासक वर्ग काँपते हैं तो काँपें। सर्वहाराओं के पास अपनी बेड़ियों के सिवा खोने के लिए कुछ नहीं है, जीतने के लिए उनके सामने सारी दुनिया है। इसीलिये कार्ल मार्क्स ने नारा दिया–

दुनिया के मजदूर एक हो।[4]

प्राचार्य,

एस. बी. आर., कॉलेज, बाढ़, पटना

संदर्भ–सूची

1. *लेनिन, संग्रहीत रचनाएँ, खण्ड–20, पृष्ठ–26*
2. *का. मार्क्स, फ्रे एगेल्स, पेरिस कम्यून के विषय में, पृष्ठ–167*
3. *लेनिन, संग्र. एच., खण्ड–24, पृष्ठ–82*
4. *का. मार्क्स, फ्रे. एगेल्स, संक. एच., खण्ड–1, पृष्ठ– 118–120*

पारिस्थितिकी दर्शन : एक विवेचन

डॉ. पुष्पा सिंह

मनुष्य मूलतः प्रकृति–प्रेमी है। स्वार्थवश वह उसके विध्वंस में अवश्य लगा रहता है। वर्त्तमान युग विज्ञान एवं तकनीकी के विकास का युग है। वर्त्तमान समय में उत्पादन–प्रक्रिया, प्राकृतिक–संसाधन एवं सम्पूर्ण प्रकृति के सम्बन्धों को समझने की आवश्यकता है। पूरी पृथ्वी (भूमण्डल) और विश्व को एक इकाई मानकर सोचने की जरूरत है। मनुष्य के भरण–पोषण और प्रगति की सभी प्रक्रियाएँ प्रकृति पर ही आश्रित हैं। किन्तु आज का मानव प्रकृति की गोद में पल कर अपनी विज्ञान–यांत्रिकी की जानकारी का दुरुपयोग कर प्राकृतिक संसाधनों के अतिशय दोहन में लिप्त है। पृथ्वी पर मानव द्वारा प्रकृति के जैविक तथा अजैविक घटकों का दोहन, शोषण एवं भक्षण करने की वजह से पारिस्थितिकी–असंतुलन उत्पन्न हो गया है। मानव के तकनीकी विकास के अहंकार के कारण जटिल पर्यावरणीय समस्याएँ प्रकट होने लगी हैं। पर्यावरणीय समस्याएँ मनुष्य के अस्तित्व के लिए खतरा बनती जा रही हैं। विगत एक शताब्दी की अन्धी सामाजिक–आर्थिक प्रगति ने प्रदूषण, प्राकृतिक प्रकोप और अनेक सांस्कृतिक समस्याओं को जन्म दिया है। मनुष्य के सामने यह विकट प्रश्न मुँह बाये खड़ा है कि वह इन समस्याओं का सामना किस प्रकार करे।

वस्तुतः पारिस्थितिकी की समस्या अत्यंत जटिल समस्या बन कर चिन्तकों के समक्ष आयी। यह समस्या एक वैश्विक समस्या है। यूँ तो पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी संबंधी समस्याओं के समाधान एवं उपायों पर विचार बीसवीं शताब्दी के पचासवें दशक से शुरू हुआ। 1992 में रियो दे जनेरो में आयोजित संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण एवं विकास सम्मेलन ने दुनिया भर की जनता का ध्यान पर्यावरण की बदलती हालत की ओर खींचा। पिछले कई दशकों से पारिस्थितिकीविदों, चिन्तकों, दार्शनिकों ने मनुष्य को समझाने का अथक प्रयास करते हुए बतलाया कि काल एवं स्थान की सीमाओं में प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। दिन–प्रति–दिन प्राकृतिक संसाधन एवं ऊर्जा–स्रोत क्रमशः क्षीण होते जा रहे हैं। इस प्रक्रिया में संसाधनों द्वारा ही निर्मित जीवपोषी तंत्र संकीर्ण, दूषित और विषाक्त होते जा रहे हैं, जिसके

फलस्वरूप पर्यावरण में ह्रास और प्रदूषण–वृद्धि तथा पारिस्थितिकी–असंतुलन एक अनिवार्य परिणाम बन गया है। यद्यपि पर्यावरण के घटक के अनेक तत्व हैं, लेकिन उसका एक महत्त्वपूर्ण घटक जीव–मंडल (Biosphere) है। इस जीव–मंडल में भी मनुष्य का स्थान सर्वोपरि है। यह सर्वविदित है कि जिस तरह पर्यावरण मनुष्य को गहरे रूप से प्रभावित करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपने क्रियाकलापों से पर्यावरण को प्रभावित करता है। इस दृष्टि से पर्यावरण एवं मनुष्य के परस्पर संबंधों का अध्ययन जरूरी होता है। फलतः पारिस्थितिकी दर्शन की शुरुआत पर्यावरण–संकट के नैतिक समाधान प्रस्तुत करने से हुई। चूँकि पर्यावरणीय समस्यायें भी जीवन तथा जगत् से जुड़ी हुई हैं, इसलिए पारिस्थितिकी दर्शन में मानव का अन्य जीवों, अजैविक घटकों एवं पर्यावरण के साथ कैसा संबंध होना चाहिए इस पर विचार किया जाता है तथा मानव–पर्यावरण सम्बन्ध के क्रम में मानव को दिशा–निर्देश भी दिया जाता है।

वारमिंग के अनुसार पारिस्थितिकी के अन्तर्गत पर्यावरण के साथ जीव के संबंधों का अध्ययन होता है।[1] पारिस्थितिकी पर्यावरण के अध्ययन का एक विज्ञान है, जिसमें न केवल जीव या जैविक समूह अन्तर्विष्ट हैं अपितु पर्यावरण की सृष्टि के सम्पूर्ण घटक भी शामिल हैं। पारिस्थितिकी के अन्तर्गत जैविक एवं अजैविक अवयव परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते रहते हैं जो इसमें संरचनात्मक और क्रियात्मक परिवर्त्तनों के कारण भी बनते हैं। इस तरह जैविक और अजैविक संघटक अपनी पारस्परिक अन्तः–क्रियाओं के द्वारा अनेक विशिष्टताओं को उत्पन्न करते हैं। पारिस्थितिकी का अस्तित्व ऊर्जा–प्रवाह पर निर्भर होता है और यह प्रवाह निरंतर बना रहता है। पारिस्थितिकी के अन्तर्गत ऊर्जा का उत्सर्जन एक सुनिश्चित अनुपात में हुआ करता है। अनुपात की यही सुनिश्चितता प्रकृति में संतुलन का कारण है। इसे ही पारिस्थितिकी की संतुलन–अवस्था कहा जाता है। किसी भी पारिस्थितिकी तंत्र में, उदाहरणस्वरूप तालाब में, जीवों की विद्यमानता एवं विनाश प्रकृति के नियमानुसार होता है, लेकिन तालाब में जिस स्रोत से पानी आता है उसे अवरुद्ध कर देने पर पारिस्थितिकी–तंत्र में असंतुलन आ जाता है। इसी कारण पारिस्थितिकी–तंत्र को क्षेत्रीय इकाई में पर्यावरण और जैविक अन्तर–संबंधों का संतुलन कहा जाता हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पारिस्थितिकी जैव–मण्डल (Biosphere) में जैविक एवं अजैविक तत्त्वों के बीच परस्पर सम्बन्धों का कार्यात्मक संतुलन है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पारिस्थितिकी समस्त जीवों का बाह्य विश्व के साथ सम्बन्धों का विज्ञान है। पारिस्थितिकी–विज्ञान तथ्यात्मक विज्ञान है जिसका समबन्ध–'क्या' से है जबकि पारिस्थितिकी–दर्शन का संबंध 'चाहिए' से है।

कुछ चिन्तकों ने पर्यावरण को पारिस्थितिकी (Ecology) भी कहा है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में पारिस्थितिकी और पर्यावरण को एक नहीं माना जा सकता है। पर्यावरण की अपेक्षा पारिस्थितिकी का क्षेत्र विस्तृत है। इसीलिए पर्यावरण को उथली–पारिस्थितिकी (Shallow Ecology) कहा जाता है एवं विस्तृत पारिस्थितिकी को गहन–पारिस्थितिकी (Deep Ecology)। उथली–पारिस्थितिकी का सीधा संबंध मनुष्य से तथा उसके प्रबंधन से है किन्तु गहन–पारिस्थितिकी का सम्बन्ध प्राकृतिक परिस्थितियों के साथ–साथ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि से भी है। प्रसिद्ध चिन्तक आर्नेनीस के अनुसार प्रकृति एक संबद्ध–प्रणाली है जिसमें खण्डों से अधिक महत्त्व समग्रता का है।

गहन–पारिस्थितिकी यह मानता है कि सभी जीव अपने आंतरिक मूल्य में समान हैं तथा दूसरों को कितना फायदा देते हैं इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके परिणामस्वरूप डीप–इकोलिजिस्ट रास्ते में चलते हुए कभी भी पेड़–पौधों को नुकसान नहीं पहुँचाते हैं तथा उन सभी सजीवों को उनके आंतरिक मूल्यों के कारण उचित सम्मान देते हैं। पीटर सिंगर कहते हैं कि प्रकृति में अवस्थित किसी चीज को नष्ट करना नैतिकता के खिलाफ है भले ही वह चीज स्फटिक हो अथवा पेड़ का पत्ता अथवा कीड़ा–मकोड़ा।[2] दूसरी तरफ उथली–पारिस्थितिकी के समर्थक प्राकृतिक स्रोतों के घटने तथा पर्यावरण–प्रदूषण के नियंत्रण पर बल देते हैं। उथली–पारिस्थितिकी का मुख्य उद्देश्य विकसित देशों की रक्षा करना है। किन्तु गहन–पारिस्थितिकी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को कोई विशेष महत्व या दर्जा नहीं दिया गया है। इनके अनुसार मानव भी करोड़ों जीव–जन्तुओं में से एक है। इनकी नजर में मानव, बाकी जीव–जन्तुओं के समान है। आंतरिक मूल्य में भी सभी समान हैं। श्रेष्ठता को लेकर कोई बड़ा या छोटा नहीं है। प्रकृति उसी तरह मूल्यवान है जिस तरह से मनुष्य अपने आंप को मूल्यवान समझते हैं।

अतः गहन–परिस्थितिकीविदों के अनुसार यदि मनुष्य अपने आप को सर्वश्रेष्ठ न समझकर, सभी सजीवों को अपने जैसा मानना शुरू कर दे तो वह उनका नुकसान नहीं पहुँचायेगा, उनकी अच्छी देखभाल करेगा, तथा साथ ही साथ मानव अपने अहं (Human Ego) को प्रकृति से समन्वय कर अपने को वृहद् प्राकृतिक वातावरण का हिस्सा मानने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य प्रकृति के किसी भी तत्व को नुकसान पहुँचाने की कोशिश नहीं करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं की 'गहन परिस्थितिकी' ऐसे दृष्टिकोण को बढ़ावा देती है जिससे पृथ्वी पर पर्यावरण में अधिक संतुलन लाया जा सके। यह प्रकृति के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने जैसा है।

आर्नेनीस तथा जार्ज सेशन्स ने 1984 में प्रकाशित अपने एक लेख में गहरी पर्यावरणीय आचारनीति के अंतर्गत बताया कि मनुष्यों को ऐसा अधिकार नहीं है कि वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जगत् की विविधता को कम कर

दें। पृथ्वी पर मानव एवं मानवेतर जीवन की सुस्थिति एवं समुन्नति के अपने मूल्य होते हैं। प्रकृति के सभी जैविक तथा अजैविक घटकों में दो प्रकार के मूल्य पाये जाते हैं– साधनपरक मूल्य (Instrumental Value) और आंतरिक मूल्य (Non-Instrumental Value)। साधनपरक मूल्य का अर्थ यह है कि कोई भी उत्पाद, किसी दूसरे उत्पाद का साधन होता है। इसके दूसरी तरफ जो आंतरिक मूल्य को मानते हैं उनके अनुसार पृथ्वी के सभी जैविक एवं अजैविक घटकों का अपना–अपना आंतरिक मूल्य होता है, जो स्वयं उसके लिए है। उदाहरणस्वरूप एक औषध–पौधा मनुष्य के लिए मात्र साधन है इसलिए वह अपने स्वार्थ के लिए उसका दोहन करता है। किन्तु दूसरी तरफ उस औषध पौधे का अपना आंतरिक मूल्य भी है। अपने आंतरिक मूल्यों के कारण वह औषध–पौधा बढ़ता है, फलता फूलता है। इस प्रकार पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपनी सत्ता कायम रखता है। इसी संदर्भ में राबर्ट इलियट ने यह कहा भी है, ''प्रकृति–पुनर्स्थापना और संरक्षा के प्रति जिस उत्तरदायित्व का दावा किया गया है वह हमें इस प्राचीन मान्यता की ओर ले जाता है कि वन्य–प्रकृति का अन्तस्थ मूल्य है''[3]।

इस प्रकार 1950 के बाद पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के अन्तर्गत गहन–पारिस्थितिकी दर्शन का विकास हुआ जो सम्पूर्ण पृथ्वी या सम्पूर्ण–ब्रह्माण्ड–केन्द्रित दर्शन था। गहन–पारिस्थितिकी में मानव तथा मानवेतर सम्पूर्ण सृष्टि को आंतरिक मूल्य प्रदान किया गया। इसमें माना गया कि जिस प्रकार चेतन प्राणी आंतरिक रूप से मूल्यवान है, ठीक उसी प्रकार अचेतन तत्वों का भी आंतरिक मूल्य है, अर्थात् उनका भी साध्य–मूल्य है। पारिस्थितिकी आचार में जब आतंरिक मूल्य की बात उठी तब पारंपरिक मानव–केन्द्रित सिद्धान्त (Anthropocentric Theory) के लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गयी। जहाँ एक ओर चुनौती के रूप में मानव–जाति का अन्य जीवों के ऊपर श्रेष्ठता का प्रश्न है वहीं दूसरी ओर अन्य जीवों में आंतरिक मूल्य विद्यमान होने जैसे सवाल उठे। अतः चिन्तकों ने इस विवाद को खतम करने के लिए अमानव–केन्द्रित सिद्धान्त को अग्रसारित करने से बेहतर एनलाइटेंड सिद्धान्त (Enlightend Theory) का प्रतिपादन किया। एनलाइटेन्ड सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति का केवल उपयोगिता–मूल्य ही नहीं होता अपितु स्वयं का आंतरिक मूल्य भी होता है। अतः आंतरिक मूल्य को अधिमानित करना चाहिए। अतः प्रकृति का कभी–भी अधिकतम उपयोग या उसे साधन मात्र स्वीकार नहीं करना चाहिए। मानव का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि विश्व में मौजूद सभी जैविक तथा अजैविक घटकों का संरक्षण करे, संरक्षण के लिए उपयुक्त कानूनी नियम बनाए ताकि पारिस्थितिकी–संतुलन बना रहे।

किन्तु यहाँ एक सवाल उठता है कि यदि हम प्रकृति को उसकी आंतरिक मूल्यवत्ता के कारण विनाश योग्य न मानें, तथा इसका पूर्ण सम्मान देते हुए उसका केवल संरक्षण ही करें, तो फिर मानव का पालन–पोषण कैसे होगा? और यहीं

सोपानपरक मूल्य की बात प्रासंगिक हो जाती है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करें तो समग्र विश्व के आंतरिक सामंजस्य को किसी तरह बिगाड़े बिना उपयोग या उपभोग उचित हो सकता है। किसी भी क्षेत्र का उतना ही उपयोग उचित हो सकता है जितने से पूरी समष्टि का संतुलन कायम रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्यावरण की समस्या के समाधान के लिए दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता है। हमें कभी–भी यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि पर्यावरण एवं अन्य प्राणियों के प्रति हमारे विशिष्ट दायित्व हैं। हमें पर्यावरण की रक्षा न केवल जैव–विविधताओं, प्राकृतिक संसाधनों एवं सौंदर्यात्मक मूल्यों की संरक्षण के लिए करनी है अपितु अपने अस्तित्व को बचाने के लिए भी आवश्यक है।

1949 ई. में एल्डो लिओपोल्ड (Aldo Leopeld) ने यह तर्क दिया कि जिस प्रकार इस संसार में हमें अपने अस्तित्व की रक्षा का अधिकार है ठीक उसी तरह सभी प्रकार के संसाधनों, पदार्थों, पादपों, प्राणियों तथा पृथ्वी पर विद्यमान सभी घटकों को भी अपने अस्तित्व के रक्षा का अधिकार प्राप्त है। किन्तु ये स्वयं अपनी बात नहीं कह सकते इसलिए उनकी रक्षा के लिए मानव को ही शुरुआत करनी पड़ेगी।

एल्डो लिओपोल्ड के इन विचारों का मूल्य उद्देश्य यही था कि मनुष्य प्रकृति का विजेता नहीं, उसका संरक्षक है। ठीक यही बात गाँधी जी भी कहते थे कि हम प्रकृति के मालिक नहीं, उसके न्यासी अर्थात् रखवाले हैं। अतः प्रकृति और पर्यावरण के लिए मानव को संरक्षक या रखवाला की भूमिका का निर्वहन आवश्यक है, और इसके लिए मनुष्य को पृथ्वी का सम्मान एवं आदर करना होगा।

1967 में लिन व्हाइट जूनियर (Lynn White Jr.) नामक इतिहासकार ने 'साइन्स' नामक पत्रिका के एक लेख में पारिस्थितिकी संकट के लिए पश्चिमी धर्मशास्त्र को उत्तरदायी माना, जिसके अंतर्गत मनुष्य को तो ईश्वर के प्रतिरूप के रूप में स्थापित किया गया, परन्तु प्रकृति को मानव के अधीन तथा उसके सुख का साधन मात्र स्वीकार किया गया।[4] इन्होंने अपने लेख में वर्णन किया है कि ज्यूडियो–क्रिश्चियन सिद्धांत (Judaeo Christian Theory) ने ही मनुष्य द्वारा प्रकृति को ज्यादा से ज्यादा दोहन करने की प्रेरणा दी। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य सभी जीव–जन्तुओं में श्रेष्ठ है और प्रकृति के सभी जीव–जन्तु मनुष्य के लिए ही बने हैं। इस प्रकार मनुष्यों को प्राकृतिक घटकों का अनंत दोहन करने की प्रेरणा मिली। कुछ इतिहासकारों का यह भी कहना है कि पाश्चात्य संस्कृति मनुष्य द्वारा जैव–जगत् के उपयोग को उचित मानती है। बाइबिल के सृष्टि–प्रकरण में कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप ही बनाया और उनको कहा– "सफल होओ और अपनी वृद्धि करो। समुद्र की मछलियों पर और वायु के पक्षियों पर और पृथ्वी पर विचरने वाले सभी जीवों पर अपना आधिपत्य रखो।" आधिपत्य के लिए बाइबिल में 'डोमिनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द के दो

अर्थ लगाये गये हैं। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ यह लगाया कि ईश्वर ने मनुष्यों को अन्य जीवों की देखभाल करने का भार सौंप दिया है। किन्तु अधिकतर लोगों ने इसका अर्थ यह लगाया कि ईश्वर ने मनुष्यों को इन जीवों को भोजन तथा अन्य कार्यों के लिए उपभोग में लाने के लिए अधिकार दिया है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने भी कहा था कि पेड़–पौधे जीव–जन्तुओं के लिए हैं और जीव–जन्तु मनुष्यों के लिए। घरेलू जानवर मनुष्य के भोजन एवं उपयोग के लिए हैं और जंगली जानवर भोजन तथा जीवन की अन्य जरूरतों के लिए, जैसे प्रोषाक, सजावट, हथियार आदि के लिए हैं।

सन् 1968 में पॉल एहरलिक ने जनसंख्या विस्फोट (*Population Bomb*) नामक पुस्तक प्रकाशित की और इस पुस्तक के द्वारा यह बतलाने की कोशिश की कि दुनिया में हर जगह मानव–जाति की जनसंख्या बढ़ रही है जो स्वयं मानव–जाति के लिए ही घातक है। जनसंख्या–विस्फोट भी पर्यावरण–प्रदूषण का प्रमुख कारण है। निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की अनेक आवश्यकताओं, जैसे भोजन, आवास आदि की पूर्ति हेतु प्रकृति का अप्राकृतिक दोहन हो रहा है। अतः पारिस्थितिकी संकट का एक कारण मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ना भी है। दीर्घकाल तक मानव–अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जनसंख्या विस्फोट पर अंकुश लगाना होगा ताकि जनसंख्या एवं पारिस्थितिकी का संतुलन बना रहे।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही मनुष्य और पर्यावरण के सह–अस्तित्व पर बल दिया जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक और रामचरितमानस जैसे ग्रंथ पर्यावरण और प्रकृति से मनुष्य का अत्यंत पवित्र रिश्ता स्थापित करते हैं। वैदिक काल के ऋषियों का कथन है – 'धरती हमारी माँ है और हम धरती के पुत्र हैं।

'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः'

वृक्षों, नदियों, सरोवरों, पर्वतों आदि में देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी है। जीव–हत्या, वृक्षों को काटना और नदी–जल को दूषित करना अनैतिक कार्य माना गया है। हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीयों के मानस में इस धारणा को बद्धमूल बना कर उन्हें प्रकृति की सुरक्षा और पवित्रता के लिए प्रतिबद्ध बनाया। नीम, तुलसी, पीपल, वट वृक्षों के प्रति पूज्य–भाव और उनकी सुरक्षा और संरक्षण के कठोर आदेश दिये गये हैं। हिन्दू धर्म में इन वृक्षों को काटने से मना किया गया है। भारतीय धर्म के अनुसार दस वृक्षों के रोपण को सबसे पुनीत कर्म, यहाँ तक कि संतानोत्पति एवं अन्य परोपकारी कार्यों से भी श्रेष्ठ माना गया है। देवताओं के वाहन पशु–पक्षी को मानने के पीछे यही आग्रह है कि इनकी हत्या न की जाय। भारत में पशुओं की पूजा एक प्राचीन परंपरा है। गाय पूज्य मानी जाती है। भारत में सूर्य को देवता कहा गया है। वनस्पतियाँ उससे उर्जा ग्रहण कर अपना आहार तैयार करती हैं। वायु को औषधि–गुणों से युक्त माना गया है। जल भी हमारे देवता

हैं और उसे किसी प्रकार दूषित करने को पाप की संज्ञा दी गयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भारत में प्राचीन काल से ही सम्पूर्ण प्रकृति एवं पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षण का नैतिक आदेश है।

भारतीय संस्कृति का अनमोल पक्ष कर्म की अवधारणा है। यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य और पशुओं की एक योनि दूसरी योनि में प्रवेश करती है। कर्म के इस सिद्धान्त से जीवन के सभी रूपों की एकता की धारणा पैदा होती है। पौधों, पशुओं और समस्त जीवों के प्रति करुणा, सहृदयता और अहिंसा का भाव ही भारत का आधारभूत दर्शन है। इस दर्शन को प्राचीनकाल के दार्शनिकों से लेकर महात्मा बुद्ध, महावीर और महात्मा गाँधी जैसे ऋषियों ने प्रतिपादित किया। अहिंसा और सभी जीव–रूपों (जीवन–रूपों) का महत्व ही बौद्ध और जैन दर्शन का केन्द्र है। यह दर्शन हमें सिखाता है कि सभी जीव–रूपों का महत्व केवल उनके उपयोग के कारण नहीं है, अपितु इसलिए भी है कि वे पृथ्वी की उस एकता के अंग हैं जिससे हमारा जीवन जुड़ा हुआ है। इसीलिए भारतीय दर्शन में स्वयं पृथ्वी पूजनीया और उपासना की वस्तु है।

निष्कर्षतः यदि सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि आज जिसे वैज्ञानिक प्रगति कहा जा रहा है, उसने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी–तंत्र को विनाश की सीमा तक ला पहुँचाया है। अतः आज मानव को अपने कार्यों और आचरणों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। उसे प्रकृति के शुद्ध उपयोगितावादी या वैज्ञानिक शोषण से हटकर प्रकृति से सामन्जस्य की दिशा में अग्रसर होने की जरूरत है। यह तभी संभव है जब हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन–शैली में बदलाव लायें एवं प्रकृति के साथ अपनी एकता को समझते हुए उसका सम्मान करें। अन्यथा हमें यही कहना पड़ेगा–

'डूबेगी कश्ती तो डूबेंगे सारे, न हम ही बचेंगे, न साथी हमारे।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र, मारवाड़ी महाविद्यालय,
राँची विश्वविद्यालय, राँची।

संदर्भ–सूची

1. *Warming, Concept of Ecology, P.I. (1995)*
2. *पिटर सिंगर, प्रैक्टिकल एथिक्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, P.19, 2000*
3. *Robert Eliot, Faking Nature, P.I, 1976*
4. *लिन व्हाइट जूनियर का लेख 'साइन्स' पत्रिका में, 1967*

पर्यावरण-संरक्षण में दर्शन की भूमिका

लाला पंचानन

आज पर्यावरण समूचे विश्व में चर्चा एवं चिंता का विषय बना हुआ है। यह मानवीय सरोकार से जुड़ी एक वृहत् चिंता है, जो जरूरी भी है और महत्वपूर्ण भी। आज विश्व जिस तेजी से विकास के पथ पर दौड़ रहा है, उसी तेजी से वह प्रकृति–प्रदत्त जल, वायु और भूमि को भी या तो नष्ट कर रहा है या प्रदूषित कर रहा है। प्रकृति का समुचित दोहन मानव–हित में है। प्रकृति प्रत्येक व्यक्ति की जरूरत को पूरा कर सकती है, लेकिन किसी की लालच को नहीं।

वैज्ञानिकों के अनुसार अनंत आकाश में अभी तक केवल पृथ्वी पर ही जीवन संभव है। पृथ्वी पर जीवन संभव इसलिए हो पाया कि यहाँ प्रकृति अनुकूल थी, और आज भी यह अनुकूलता न्यूनाधिक मात्रा में सुरक्षित रहने के कारण ही जीवन संभव हो पा रहा है। प्राचीन काल से मानव प्रकृति के प्रति अपनी इसी कृतज्ञता–ज्ञापन के रूप में प्रकृति की पूजा करता आया है। विभिन्न प्रकार से प्रकृति–पूजा करने वालों को शायद यह अच्छी प्रकार से ज्ञात भले ही न हो, लेकिन जिन्होंने प्रकृति–पूजा आरंभ की है उनका मुख्य उद्देश्य यही रहा है। प्रकृति हमारी जीवन–दायिनी माँ है। जीवन के लिए अति आवश्यक हवा, पानी और प्रकाश सब हमको प्रकृति उपलब्ध कराती है। इन आवश्यक तत्वों के अभाव में कुछ क्षणों के लिए भी पृथ्वी पर जीवन संभव नहीं होगा। इसलिए हम सभी मानव को जो, इस रहस्य को समझ सकते हैं, प्रकृति के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए और अधिक से अधिक प्राकृतिक संतुलन बनाये रखना चाहिए।

प्रकृति का सहअस्तित्व और संतुलन मानव के लिए अति आवश्यक है। प्रकृति ने सूर्य की पराबैगनी किरणों से मानव की रक्षा के लिए ओजोन का एक अभेद्य कवच बनाया है, लेकिन हम लोग विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों से ओजोन की छतरी को छलनी करने में लग गये हैं। जो ऑक्सीजन हमें जीवन देती है, उसी को हम प्रदूषित कर रहे हैं। जिस गंगा–जल में स्नान कर हम पाप–मुक्त होते थे, उसी गंगा–जल को हम प्रदूषित कर रहे हैं। वर्तमान समय में हम कालिदास की भाँति जिस डाल पर बैठे हैं उसे ही जड़ से काटने में लगे हैं; उन प्राकृतिक शर्तों को मिटाने पर तुल गये हैं जिनके चलते पृथ्वी पर जीवन संभव हुआ था।

भारतीय दर्शन की वैश्विक दृष्टि, जिसका प्रारंभ हम वेदों में पाते हैं और जो उपनिषदों में विकसित हुई तथा महाकाव्यों, पुराणों में हम इस दृष्टि के विभिन्न रूप पाते हैं, मनुष्य और प्रकृति के मध्य विरोध या अधीन–अधीनस्थ भाव के स्थान पर सामंजस्य एवं समरूपता की अवधारणा को प्रस्तावित करती है।

पर्यावरण–रक्षण का मुद्दा मुख्य रूप से 19 वीं शताब्दी के औद्योगिक विकास से प्रारंभ होता है। परंतु हमारे देश के क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने इस विषय को हजारों वर्ष पूर्व ही स्पर्श कर लिया था। विश्व का सबसे प्राचीन ग्रंथ *ऋग्वेद* माना जाता है। उसमें भी दूरद्रष्टा ऋषियों ने पर्यावरण की शुद्धता पर अपनी चिन्ता प्रकट की है। पर्यावरण की रक्षा जीवन का आधारभूत तत्व है। पृथ्वी, जल व वायु जगत् का आश्रय हैं। प्राणिमात्र के जीवन के लिए इनका संरक्षण आवश्यक है। आज भी सभी वैज्ञानिक प्रदूषण–निवारण के लिए वृक्ष व वनों को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं, क्योंकि ये हानिकारक वायु को आत्मसात् कर जीवन–दायक वायु हमें प्रदान करते हैं। इसी कारण *यजुर्वेद* में इन्हें श्रद्धापूर्वक नमन किया गया है:–

(क) ''नमो वृक्षेभ्यो''[1]

(ख) ''ओषधीनां पतये नमः''[2]

(ग) ''अरण्यानां पतये नमः''[3]

(घ) ''नमो वन्याय च''[4]

वैदिक ऋषि यह भली–भाँति जानते थे कि वन, वृक्ष तथा वनस्पतियाँ प्रदूषण दूर करके शुद्ध व सुगंधित वायु को प्रवाहित करके मेघों को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। यह पर्यावरण के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है, इसलिए वनों की रक्षा की जानी आवश्यक ही नहीं अपितु नये वृक्षों का आरोपण भी आवश्यक है। यह इस मंत्र से सुस्पष्ट हैं –

''वनस्पति वन आस्थापयध्वम्''[5]

वेद मंत्रों में वृक्षों की हिंसा का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त जल और पृथ्वी की हिंसा का भी निषेध किया गया है–

''माऽपो मौषधी हिंसीः''[6]

''पृथिवीं मा हिंसीः''[7]

वृक्षों को काटना ही उनकी हिंसा करना है। जल को मलमूत्रादि से प्रदूषित करना जल की हिंसा करने के ही समान है। इसी प्रकार बहुत धन कमाने तथा अन्न उपजाने के लिए अन्धाधुन्ध रासायनिकों का प्रयोग करना तथा दूषित पदार्थों का पृथ्वी पर विसर्जन करना पृथ्वी की हिंसा करने के समान है। वेदमंत्रों में इसका निषेध किया गया है। स्वार्थपूर्ति के लिए पृथ्वी का अत्यधिक खनन, पर्वतों का भेदन, वनों का उच्छादन भूमि की हिंसा है, यह सब पर्यावरण–प्रदूषण है। वैदिक मंत्रों में उपरोक्त प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है।

वैदिक मंत्रों में मानसिक प्रदूषण को दूर करने पर भी जोर दिया गया है, क्योंकि यह भौतिक प्रदूषण या सामाजिक प्रदूषण से भी भयंकर होता है। यदि मानसिक प्रदूषण न रहे तो विश्व में चिरस्थाई शांति स्थापित की जा सकती है, इसलिए वैदिक मंत्रों में मन की शुद्धि के लिए बारम्बार प्रार्थनाएं की गई हैं–

(क) ''तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु''[8]

(ख) ''सं वो मनांसि जानताम्''[9]

(ग) ''पराऽपेहि मनस्याप किमशस्तानि शंससि''[10]

निर्दोष व निष्पाप शुद्ध–हृदय व्यक्तियों से बने समाज में समरसता, एकता व शांति स्थापित की जा सकती है। *अथर्ववेद* में यह कामना की गयी है कि हे ईश्वर! आप हमें द्वेष–रहित बनावें–

''सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमिव :''[11]

प्रकृति के विभिन्न तत्वों के बीच जो आपसी संतुलन है उसे वेदों में निश्चित ब्रह्मांडीय व्यवस्था के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। 'ऋत' को हम वैदिक पर्यावरण, सद्भाव और सह–अस्तित्व का नैसर्गिक सिद्धान्त कह सकते हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड 'ऋत' की व्यवस्था से संचालित होता था। अतः सर्वत्र संतुलन व सामंजस्य था। सूर्य के प्रकाश की भाँति सभी संसाधन सबके उपभोग के लिए सुलभ थे। सृष्टि के सर्वाधिक विवेकशील एवं संवेदनशील प्राणी–मनुष्य पर स्वयं के साथ–साथ पशु–पक्षियों, वृक्ष–वनस्पतियों, नदियों, पर्वत–श्रेणियों, सबके रक्षण का दायित्व था। *ईशावास्योपनिषद्*–(6) में कहा गया है कि जो सब जीवों में अपनापन देखता है और अपने में सब जीवों को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है। वह सभी जीवों में परमात्मा के स्वरूप को देखता है और सबको सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यहाँ हमें निश्चित रूप से भारतीय चिंतन–दृष्टि का प्रकृति के प्रति सजग चेतना का दर्शन होता है।

पर्यावरण–संतुलन से सम्बद्ध विभिन्न तत्व पुराणों में सर्वत्र उपलब्ध हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण पुराणों में वर्णित विभिन्न देवताओं का स्वरूप (जैसे– गणेश का हाथी का स्वरूप, शिव का सर्प व गंगा नदी धारण किया हुआ स्वरूप) एवं उनके विभिन्न प्राणियों को वाहन के रूप में प्रयोग (जैसे– विष्णु का वाहन गरुड़, शिव का नन्दी बैल, गणेश का मूषक) है। प्रकृति के विभिन्न तत्वों को अपने आराध्य देवताओं से जोड़ने की भावना उनके प्रति आस्था व प्रेम को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक मनुष्य विभिन्न वृक्षों, जीव–जन्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है और उन्हें कम से कम हानि पहुँचाने का सचेष्ट प्रयास करता है, जिसे पर्यावरणीय संतुलन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

यजुर्वेद के शान्तिपाठ (36/17) में कहा गया है कि अन्तरिक्ष, आकाश, पृथ्वी, जल, औषधि, वनस्पतियाँ इत्यादि प्रत्येक पदार्थ शांतिकारक हैं, उसी प्रकार

मनुष्यों को भी प्रकृति की व्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वेदों में संपूर्ण विश्व के साथ प्रेम की भावना निहित है। यहाँ कहा गया है कि "सब मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखूँ और सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।"[12] यह प्रेम केवल मानवमात्र के लिए ही नहीं अपितु संपूर्ण प्राणिजगत् के लिए है।

आज जो विकास हो रहा है उसमें मनुष्य प्रकृति का शोषक बन गया है। मनुष्य प्रकृति का अधिक से अधिक शोषण करता है। अधिक भोग ही विकास का मापदण्ड है। इस विचार को फैलाने में यूरोप की औद्योगिक क्रांति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। औद्योगिक क्रांति के बाद व्यक्ति की विचारधारा में और सामाजिक मूल्य में बहुत बड़ा परिवर्तन आया। भौतिकवादी विचारधारा समाज में अपने पैर जमाने लगी। लोग उपभोक्तावादी संस्कृति के मोह में फँसते चले गये। प्रकृति अब पूजा का विषय न रहकर मात्र उपभोग की वस्तु बन गई। जिस प्रकृति पर छोटे–बड़े प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार था उसे कुछ विशेष लोगों ने कब्जा करके उसका दोहन करना प्रारंभ कर दिया। धीरे–धीरे मनुष्य का स्थान बड़ी–बड़ी मशीनें लेने लगीं और उनके द्वारा छोड़े गये धुएँ और कचरे से वातावरण प्रदूषित होने लगा। औद्योगीकरण की उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते हमारे अंदर से नैतिक भय एकदम समाप्त हो गया। अपना लाभ और अपना सुख अब धीरे–धीरे समाज की केन्द्रीय विचारधारा बन गई। न हम अपने वैयक्तिक जीवन में पवित्र रह पाये और न सामाजिक जीवन में। यही दोनों जीवन की पवित्रता मानव और प्रकृति के बीच के सम्बन्ध की आधारशिला थी। हमारी पुरानी संस्कृतियाँ, जो प्रकृति के साथ समरस होकर जीने का आधार थीं, गहन रूप से प्रभावित हो गईं।

वर्तमान पर्यावरणीय संकट का मूल कारण हमारी सोच है जो मनुष्य को प्रकृति से श्रेष्ठ समझती है। आज का मानव सोचता है कि ईश्वर ने प्रकृति को मानव के उपभोग के लिए बनाया है। यदि मनुष्य की सर्वोच्चता की इस दृष्टि को बदल कर मनुष्य को पर्यावरण–तंत्र का एक अंग स्वीकार कर उसकी चेतना का विस्तार पूरे ब्रह्माण्ड में किया जाय तब वर्तमान पर्यावरणीय समस्या का उचित समाधान खोजा जा सकता है। इस प्रकार की बात भारतीय दर्शन में मौजूद है क्योंकि यहाँ प्रकृति के प्रति मैत्री की भावना से बढ़कर पूजा की भावना है। यहाँ प्रकृति से अनुराग केवल उपयोगितावादी दृष्टि से नहीं वरन् पूजा, श्रद्धा और आदर की भावना से है।

पर्यावरणीय समस्या के बारे में निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि समस्या विकराल होकर लाइलाज न हो जाय इसके पूर्व हमें पर्यावरण–संतुलन को बिगाड़ने वाली गतिविधियों को बंद करना होगा और हो गई क्षति की पूर्ति के लिए उपयुक्त उपाय कर सबको प्रकृति की ओर लौटना होगा; तभी हमारी

प्रकृति सुरक्षित रह पायेगी। हमें यह समझना होगा कि प्रकृति के सुरक्षित रहने पर ही पृथ्वी सुरक्षित रहेगी और पृथ्वी के सुरक्षित रहने पर ही हम सुरक्षित रह पायेंगे अर्थात् इसी मे हम सबों का कल्याण निहित है। इस कल्याणकारी कार्य में दर्शन की महत्ता को, उसकी उपादेयता को, उसकी अनिवार्यता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

'उमा सदन', ग्राम-बगात खुटहरी, पो.-देवनचक,
भाया- मेहरमा, जिला-गोड्डा (झारखण्ड)

संदर्भ

1. *यजुर्वेद, 16–17*
2. *वहीं, 16–19*
3. *वहीं, 16–20*
4. *वहीं, 16–34*
5 *ऋक्, 10–101–11*
6. *यजुर्वेद, 6–22*
7. *वहीं, 13–8*
8. *वहीं, 34–1*
9. *ऋक्, 10–191–2*
10. *अथर्ववेद, 6–45–1*
11. *वही, 3–30–1*
12. *दृत दृंह मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम् मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजुर्वेद 36/18*

महाभारत में पर्यावरण-चिन्तन

ओम प्रकाश मेहता

महाभारत के बारे में प्रसिद्ध है कि 'इसमें जो कुछ निहित है, वही अन्यत्र है और इसमें जो कुछ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।' यह बात पर्यावरण–चेतना के मामले में भी सोलह आने सही है। *महाभारत* में कहा गया है कि सभी जीव सुख की इच्छा करते हैं और दुःख से दूर रहना चाहते हैं। पेड़–पौधों को भी शीत–उष्ण, सुख–दुःख आदि के प्रति हमारे समान ही संवेदनशील बताया गया है।[1] अतः न केवल पशु–पक्षियों के प्रति, बल्कि वनस्पति–जगत् के प्रति भी संजीदा होना हमारी जिम्मेदारी है।

वृक्षों को *महाभारत* में पुत्रवत् माना गया है। इसलिए कल्याण की कामना करनेवालों को पेड़ लगाने और उसकी रक्षा करने के लिये कहा गया है। फूल और फल से भरपूर वृक्ष मनुष्य को तृप्त करते हैं। वृक्षारोपण को *महाभारत* में लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से कल्याणकारी बताया गया है।[2] वृक्षों के प्रति तत्कालीन समाज काफी संजीदा था। स्वयं पाण्डवों का अधिक समय वनों में ही व्यतीत हुआ। प्रदूषण–विहीन वायु का प्रसंग अनेक स्थलों पर मिलता है। शुद्ध वायु के सेवन से मानसिक संतुलन स्थिर और विचार स्वस्थ होगा, अन्यथा प्रतिकूल प्रभाव पड़ने से समस्त मानवीय व्यवस्था प्रभावित होगी। *महाभारत* के आदि–पर्व में कहा गया है कि यदि गाँव में एक पेड़ फूल और फलों से भरा–पूरा हो तो वह स्थान हर प्रकार से अर्चनीय या पूज्य है –

> एक वृक्षोहि यो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वितः
> चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरचनीय सुपूजितः।

महाभारत का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत वासुदेव–कृष्ण संप्रदाय से संबंधित है जो कि परवर्ती वैष्णव–मत का आधार है। पेड़–पौधे, लता–गुल्म, वन–पर्वत, नदी–निर्झर सबसे गहरा लगाव का भाव इस मत की विशेषता है। भगवान् कृष्ण स्वयं वनवारी थे। उनके मित्र गो–पालक थे और सखियाँ गोपियाँ थी। कृष्ण के बचपन और यौवन की मनोहारी लीलाएं इसी प्राकृतिक परिवेश में सम्पन्न होती हैं। वैष्णव–मत में हिंसा पूरी तरह वर्जित है।

महाभारत में भी पशु–हिंसा को पाप माना गया है। युधिष्ठिर ने कई जगह अहिंसा को परम धर्म घोषित किया है। अहिंसा तप और सत्य का आधार है जिस पर धर्म टिका हुआ है :–

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।[3]

इसलिए वेदज्ञ पुरुष अहिंसा को ही धर्म का लक्षण मानते हैं। आत्मवान् के लिए अहिंसा–युक्त कर्म का विधान है। अहिंसा का फल यज्ञों के दान और तीर्थों के स्नान से बढ़कर माना गया है। अहिंसा के तप का क्षय नहीं होता है। अहिंसक मानव समस्त जीवों के माता–पिता के समान हैं।[4]

महाभारत–काल में पृथ्वी की विधिवत् स्तुति की जाती थी। पृथ्वी की सुरक्षा एवं संरक्षण ज्ञानी–जनों द्वारा विशेष रूप से किया जाता था। लाक्षागृह से जीवित बच जाने पर जब पाण्डवों को पुनः खाण्डवप्रस्थ प्राप्त हुआ तो उन्होंने सर्वप्रथम पृथ्वी की पूजा की। पृथ्वी के उपभोग की बात श्रीकृष्ण ने धर्म–मर्यादा में रहते हुए कही है। इसका अतिशय उपभोग अनुचित है। यदि मानव धर्म–मार्ग का अनुसरण नहीं करता तो निश्चित रूप से धर्मच्युत माना जाएगा। वे युधिष्ठिर से कहते हैं–''यथेष्ठं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह।''[5] पृथ्वीदान समस्त दानों में श्रेष्ठ है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं –

''दोग्घ्री वासांसि रत्नानि पशून् व्रीहियवांस्तथा।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाष्वती रेधते समाः।।''[6]

वेदों के ही समान *महाभारत* में भी पृथ्वी को माता माना गया है – ''..... पावनं जननी यथा।''[7] यदि हम सभी पृथ्वी की मातृवत् अर्चना करेंगे तो निश्चित रूप से वह हमको पुत्रवत् स्नेह प्रदान करेगी। *महाभारत* में उपलब्ध ऐसा चिन्तन *अथर्ववेद* के भूमि–सूक्त की याद दिलाता है। पृथ्वी को मातृरूप में कल्पित करना कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। इसमें जेम्स लवलॉक के 'गाइया हाइपोथेसिस' का स्पष्ट पूर्वाभास मिलता है। फिर नारीवाद और 'इको–फेमिनिज्म' की दृष्टि से भी इसके गहरे निहितार्थ हैं।[8]

दर्शन और पर्यावरण में घनिष्ठ संबंध है। महाभारत–काल में मनीषियों को पता था कि चिन्तन–मनन और ज्ञान–ध्यान के लिए अनुकूल वातावरण कितना आवश्यक है। दूषित वातावरण में मनुष्य घुटन महसूस करेगा और वह उच्च और गम्भीर चिन्तन की ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा। इसलिए प्रदूषित पर्यावरण में चिन्तन की मनाही है – 'वाते च पूर्तिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत्'[9]

जल की पवित्रता का उल्लेख *महाभारत* के कई स्थलों पर मिलता है। नदी के जल में स्नान पवित्र कर्म बताया गया है। अनुशासन पर्व में अंगिरा मुनि जल के माहात्म्य को गौतम ऋषि से कहते हैं– समुद्र का स्वच्छन्द जल अपनी लहरें

उठाकर वायु का अभिवादन स्वीकार करते हुए अपनी विनम्रता का उपदेश देता है। वर्षा के जल–संरक्षण के अनेकविध उपाय *महाभारत* में वर्णित हैं। वर्षा का जल बावड़ी, कुएँ, तालाब आदि में संरक्षित होकर वर्षानन्तर काल में जन–कल्याण के कार्य आएगा। जल–संरक्षण एक पुण्य कृत्य है। तालाब खुदवाने वाला तीनों लोकों में पूजित होता है। उसे कई यज्ञों का फल मिलता है, क्योंकि सरोवर का जल पीकर मृग, पक्षी आदि प्यास बुझाते हैं और साधु तथा मनुष्य पानी पीकर तृप्त होते हैं। जो सरोवर पान, स्नान और विश्राम का आधार होता है उसे बनवानेवाला भी अपार पुण्य का अधिकारी होता है। अनुशासन पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को जलाशय–निर्माण से धर्म, अर्थ, काम तीनों फल की प्राप्ति का उपदेष दिया है।[10]

महाभारत के सारभूत अंश के रूप में *श्रीमद्भगवद्गीता* का सनातन महत्व है। *गीता* का मूल संदेश है – अधर्म पर धर्म की विजय। गोविन्द चंद्र पांडे के मतानुसार भारतीय साहित्य में धर्म–संग्राम का यह रूपक शुरू से ही स्थायी रूप में मिलता है। *रामायण* और *महाभारत* में संग्राम का यही अर्थ है। "दो विभिन्न स्वार्थों का संघर्ष न्याय और अन्याय का संघर्ष नहीं होता, चाहे वह सौ कौरवों का स्वार्थ हो या पांच पांडवों का। इस प्रकार के संघर्ष में उदात्त प्रकृति का व्यक्ति युधिष्ठिर या अर्जुन के समान स्वार्थ–त्याग को ही श्रेय मानता है। न्यायिक संग्राम स्वार्थ–निरपेक्ष भावना से ही हो सकता है। बिना दैवी संपदा को अर्जित किए यह संभव नहीं है।"[11] अधर्म का बोलबाला तभी पैदा होता है जब संयम और नियताचार पर अहं और स्वार्थ हावी हो जाता है। *गीता* में दैव–संपद और आसुरी–संपद की भी चर्चा मिलती है। आसुरी प्रवृत्तियाँ हर जगह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहती हैं। इससे समाज और समूचे पर्यावरण का ताना–बाना क्षत–विक्षत होने का खतरा पैदा हो जाता है।

गीता और *महाभारत* हमें केवल कोरा आदर्श की शिक्षा ही नहीं देते, बल्कि जीवन के कठोर यथार्थ से भी रू–ब–रू कराते हैं। उनमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं हुई है कि मानव इस लौकिक जगत् में आहार–श्रृंखला का एक अंग है। कहा गया है – 'जीवः जीवस्य जीवनम्'। लेकिन यहाँ भी अपरिग्रह का आदर्श नियत किया गया है। प्रकृति और जीव–जगत् से हमें कम–से–कम लेने का अधिकार है ताकि हम अपने अस्तित्व का निर्वाह कर सकें। अपनी आधारभूत आवश्यकता से अधिक हड़पना चोरी कहा गया है। *गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं – 'स्तेन इव हि सः'।[12] *महाभारत* के शांतिपर्व में किसी समुदाय के सदस्यों में संतोष और सामंजस्य को स्वास्थवर्द्धक पर्यावरण के लिए आवश्यक माना गया है।

सदाचार के लिये *गीता* का आदेश निष्काम–कर्म करने का है। सामाजिक जीवन को लेकर *गीता* में 'लोकसंग्रह' का उदात्त आदर्श मिलता है। इस आदर्श से संचालित व्यक्ति अपना स्वार्थ नहीं देखता, बल्कि जीवों के कल्याण हेतु अनायास ही प्रवृत होता है – 'सर्वभूत हिते रतः'। अरापुरा के अनुसार इस आदर्श में

पर्यावरण–संतुलन को बनाए रखने का विचार भी निहित है।[13] इस संदर्भ में अमानत या न्यासिता सिद्धांत भी विचारणीय है। जो लोग श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार मानते हैं उन्हें यह भी मान्य है कि 'सबै भूमि गोपाल की'। इस मान्यता का संदेश यह है कि हमें पूरी धरती को भगवान् की धरोहर समझकर अनासक्त भाव से उसे निष्ठापूर्वक सुरक्षित रखना चाहिए।[14]

वेदोपनिषद् की परंपरा में *गीता* का भी मत है कि यह संपूर्ण विश्व ईश्वर का शरीर है। 'विश्वेश्वर' का यह विचार ही वास्तव में *गीता* की पराकाष्ठा है। श्रीकृष्ण एक स्थल पर अर्जुन को दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे वह भगवान् में 'विष्वरूप' का दर्शन करता है।[15] भगवान् कहते हैं – मेरी दैवीय उपस्थिति का कोई अंत नहीं है।[16] वैष्णव मत पर इसका साफ प्रभाव देखा जा सकता है। चूंकि संसार में सबकुछ साररूप में दैवीय माना गया है, अतः हमारे यहां एक विशेष तरह की पर्यावरणीय आचारनीति का विकास हुआ। सभी जीवों, समूची प्रकृति के प्रति आदर का भाव इस आचारनीति की विशेषता है।[17] *महाभारत* में मानव और उसके पर्यावरण के अन्योन्याश्रित सम्बंध का वर्णन मिलता है। समस्त पर्यावरण में एक ही परमात्मा समान रूप से व्याप्त है। सभी प्राणी उसी से अनुप्राणित हैं। *गीता* के सातवें अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं –

"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्वदेवेशु शब्दः रवे पौरुषं नृशु।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।"

अर्थात् "हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।"

निष्कर्ष :– इस तरह *महाभारत* में उदार और उदात्त पर्यावरण–चिन्तन उपलब्ध है। उतने पुराने समय में ऐसी चेतना विकसित हो पाने का मूल कारण स्पष्टतया धार्मिक रहा है। धर्म का विचार *महाभारत* में केन्द्रीय महत्व का है। इसके अनुसार धर्म का सरोकार उन नियमों से है जिनसे समाज में स्थिरता और संतुलन बना रहे।[18] धर्म को व्यापक अर्थ में आदर्शपूर्ण जीवन का चेतना–सूत्र कहा जा सकता है – 'धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।' इसका अंतिम लक्ष्य सभी जीवों का कल्याण है (सर्व भूतहितम्)।

फिर, *महाभारत* के सारभूत अंश के रूप में *गीता* का संदेश वर्तमान संदर्भ में बड़ा ही प्रासंगिक है। जो पर्यावरण–संकट आज पैदा हुआ है वह भी आसुरी प्रवृत्तियों या दानवी तत्त्वों का परिणाम है। उसके मूल में भी हमारा संकीर्ण स्वार्थ,

प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, उनपर कुछ देशों की आधिपत्य जमाने की होड़ तथा कुछ लोगों की भोग–विलास वाली जीवनशैली ही है। अतएव पर्यावरण–संकट एक नैतिक और आध्यात्मिक संकट भी है। इसलिए भारतीय जीवन–दर्शन की सहज आध्यात्मिकता, *महाभारत* जैसे महाकाव्यों का धर्म–विचार इस पर्यावरण–संकट की घड़ी में हमें नयी दृष्टि दे सकते हैं।

शोध-छात्र, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखण्ड)

संदर्भ

1. *महाभारत, शांति पर्व, 184.1.27*
2. *वही, अनुशासन पर्व, 99. 24–33*
3. *वही, अनुशासन पर्व, 116, 25*
4. *वही, 39–40, 116–117*
5. *वही, आदिपर्व, 206.51*
6. *वही, अनुशासन पर्व, 62.3*
7. *वही, 62.11*
8.. *Vide, Purifying the Earthly Body of God, ed. by L.E. Nelson, D.K. Print World, N. Delhi, 2000, p.96*
9. *महा0, 107.38*
10. *महा, अनुशासन पर्व, 99–3, 4, 6, 8, 14, 16, 18*
11. *गोविन्द चंद्र पांडे, भारतीय परंपरा के मूल स्तर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1993, पृ. 68*
12. *Vide, G. Naganathan, Ecological Spirituality, New Age Books, N. Delhi, 2004, p.35.*
13. *Vide, S.P. Agrawal, The Social Role of the Gita, Motilal Banarsidass, 1993, p.302.*
14. *बैजनाथ सिंह, पर्यावरण रक्षा, एस0 चंद एंड कं0लि0, न0 दिल्ली, 1995, पृ. 273*
15. *भगवद्गीता, 11.7*
16. *वही, 10.40*
17. *देखें, एल0ई0 नेलशन, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ. 40.*
18. *महाभारत, 12.110.11*

गाँधी जी का अहिंसक नीति-दर्शन

सुश्री रीना कुमारी

गांधी जी हमारे देश के राष्ट्रपिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। गांधी का लक्ष्य था कि ऐसे समाज की स्थापना हो जहां शान्ति तथा आनन्द का वास हो तथा हर व्यक्ति का दायित्व एक दूसरे से जुड़ा हो। उन्होंने सभी प्रसिद्ध धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया था, सभी से वे प्रभावित थे तथा सभी धर्मों के आदरणीय पैगम्बरों के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी। इसके बावजूद उन्हें हिन्दू धर्म के प्रति बहुत ही रुझान थी। गांधी जी का जीवन ही सत्य और अहिंसा पर टिका हुआ था। इस संबंध में मार्टिन लूथर किंग (जूनियर) ने कहा– ''यदि मानवता को विकसित होना है तो गांधी आवश्यक है। यदि मानव एवं उसके उत्कृष्ट मूल्यों की सार्थकता है तो गांधी की सार्थकता है।

गांधी का राजनीतिक दर्शन और उनकी प्रतिरोध–पद्धति उनके धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों के निष्कर्ष पर अवलंबित है। उनकी दृष्टि में धर्म–विहीन राजनीति आत्मा के विनाश की फांसी है, क्योंकि मनुष्य के दूसरे कार्यों की भांति राजनीति भी या तो धर्म द्वारा अथवा अधर्म द्वारा अनुशासित होती है। धर्म के नैतिक आधार के बिना जीवन अर्थहीन और निष्फल है, परन्तु धर्म से उनका आशय किसी विशेष धर्म, जैसे हिन्दू धर्म से, नहीं है। उनके लिए धर्म वह है जो सब धर्मों में सामंजस्य स्थापित करता हो, जो मनुष्य–स्वभाव का कायापलट कर देता है, जो मनुष्य का आंतरिक सत्य से संबंध स्थापित करता है और सदा उसको शुद्ध करता है। धर्म मनुष्य–स्वभाव का वह स्थायी तत्व है जो पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार है और जिसके कारण आत्मा तब तक नितांत व्याकुल रहती है जब तक वह अपने को और अपने निर्माता को पहचान नहीं लेती और दोनों के तादात्म्य की अनुभूति नहीं कर लेती।[1]

संक्षेप में धर्म का अर्थ विश्व के सुव्यवस्था स्थित, नैतिक शासन में विश्वास है।[2] गांधी जी के अनुसार धर्म का वही अर्थ है जो नैतिकता का है और ''सत्य नैतिकता का सार'' है।[3]

गांधी भारतीय स्वाधीनता–संग्राम के महानायक हैं। महानायक वह होता है जिसके इशारे पर काल अपनी दिशा बदलता है। गांधी जी ने भी इशारे किये और

सदियों की गुलामी में झुकी भारतीयता की रीढ़ सीधी हो गई। राष्ट्र का स्वाभिमान जाग उठा, देश ने अपनी अस्मिता पहचानी और जनता ने अपना वजूद। इसलिए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह ''दिनकर'' ने उन्हें भारत का पर्याय मानते हुए कहा– ''आज का भारत गांधी का भारत है और गांधी का नाम आज से भारत का पूरा पर्याय है।''[4] ऐसा इसलिए कि गांधी ने चिंतन–व्यवहार, भाषा, परिधान, धर्म, राजनीति तथा मूल्यशैली आदि कई आयामों से भारत की सभ्यता और संस्कृति पर व्यापक प्रभाव डाला। परन्तु गांधी केवल भारत में नहीं थे, वे पूरी दुनिया और सारी मानवता के थे। इसकी गवाही राधाकृष्णन्, लोहिया और जयप्रकाश जैसे भारतीय ही नहीं आइन्स्टीन, रोमा रोला और हेन्स हॉब्स जैसे विदेशी भी देते हैं। इसलिए उन्हें विश्व का महानायक कहा जा सकता है। मगर सवाल उठता है उनके महानायक बनने का आधार क्या था? उत्तर मिलेगा ''अहिंसा''।

यद्यपि भारतीय परम्परा में प्राग्वैदिक काल से चली आ रही अहिंसा वेद–उपनिषद् काल से होते हुए जैन और बौद्ध काल में अत्यन्त विकसित रूप में प्रकट हुई, परन्तु आधुनिक काल में इसके सबसे बड़े प्रणेता महात्मा गांधी हुए। गांधी जी के पहले अहिंसा व्यक्तिगत पालन के रूप में प्रचलित थी, लेकिन वे इसका पालन सार्वजनिक प्रयोग के रूप में किये। उन्होंने अहिंसा को राजनैतिक प्रयोग के द्वारा भारत को आजादी दिलाकर इसे क्रांति के सफल हथियार के रूपमें स्थापित कर दिया। 20वीं सदी में ऐसा करने वाले गांधी संभवतः अकेले व्यक्ति हैं, जिन्होंने राजनैतिक आन्दोलन से लेकर सामाजिक व्यवहार तक में, अहिंसा का सामूहिक प्रयोग किया। वस्तुतः वेदपूर्ण वाली अहिंसा की पतली धारा को उन्होंने विस्तृत सागर में परिवर्ति कर दिखाया। वह भी नैतिकता और अहिंसात्मक सत्याग्रह के रूपमें। 1930 के नमक सत्याग्रह का निर्णय और सन् 1940–41 का सत्याग्रह प्रारम्भ करने का निर्णय, श्रद्धा पर आधारित थे। अंतिम निर्णय के बारे में गांधी जी ने कहा ''वह मेरी बुद्धि से नहीं आया है। वह तो मेरे हृदय से, जहां अन्तरतम का निवास है, आया है। उसी ने यह निर्णय दिया है।''[5]

गांधी जी के अनुसार मानव–जीवन का परम साध्य आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति का अर्थ है ईश्वर के साक्षात्कार, निरपेक्ष सत्य का अनुभव, मोक्षप्राप्ति अथवा आत्मज्ञान से है। वे आध्यात्मिक एकता के सिद्धांतों में विश्वास करते हैं। उनकी जीवन की कसौटी साध्य और साधन के रूप में बंधी हुई है, क्योंकि परम साध्य से साधन की समस्या का निकटतम संबंध है। कम्युनिस्ट, फासिस्ट और अधिकतर व्यावहारिक राजनीतिज्ञों का इस सिद्धान्त में विश्वास है कि साधन के औचित्य का आधार साध्य है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि यदि साध्य वांछनीय है, तो जो भी साधन साध्य–प्राप्ति में सहायक हों वे उचित हैं। गांधी जी के दर्शन में साध्य और साधन में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों

को समान रूप से नैतिकता पर आधारित होना अति आवश्यक है। गांधी जी के शब्दों में "जैसा साधन वैसा साध्य"।[6] "साधन बीज है, साध्य वृक्ष; इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही संबंध साधन और साध्य में है।[7] *गीता* के निष्काम कर्म के सिद्धान्त से भी हमको यही शिक्षा मिलती है कि अच्छे काम का अच्छा ही परिणाम प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में वे फिर कहते हैं कि "यदि कोई साधनों की शुद्धता का ध्यान रखे, तो साध्य अपने आप ठीक रहेगा।"[8]

गांधी जी साधनों के महत्व पर जोर अवश्य देते हैं, पर इससे यह गलत धारणा नहीं लेनी चाहिए कि उनके लिए साध्य और साधन में अभिन्नता का संबंध है और वे उत्सुक हैं कि प्रयुक्त साधन किसी तरह हमारे साध्य की नैतिकता को कम न कर सकें। इसलिए वे बार–बार अनुरोध करते हैं कि हमारा साधन उतना ही शुद्ध होना चाहिए जितना साध्य और हमें "शुद्ध अच्छाई के दृढ, ठोस तल पर" अटल रहना चाहिए। साध्य और साधन के नैतिक समीकरण के सिद्धांत को सत्याग्रह के रूप में अभिव्यक्त करने का गांधी जी का प्रयत्न क्रांति की पद्धति और दर्शन को आधुनिक संसार को सर्वश्रेष्ठ देन है।

गांधी की अहिंसा–नीति बहुआयामी है। वह समर्थ राष्ट्रों द्वारा असमर्थ राष्ट्रों पर किये गये सर्वआयामी हमलों का प्रतिकार कर सकती है। इस क्रम में उनका असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा, अनशन तथा सत्याग्रह आदि कार्यक्रम किसी भी राष्ट्र के हिंसक हमले को विफल कर देने के सफल उपाय हैं। यद्यपि दो विश्व–युद्धों के बाद अब ऐसी स्थिति नहीं रही कि कोई हिटलर या नेपोलियन पैदा हो जो सैनिक कारवाई के द्वारा सीधे–सीधे किसी भी कमजोर राष्ट्र पर कब्जा कर ले तथापि अमेरिका द्वारा इराक पर किये गए हमले तथा मजबूत राष्ट्रों द्वारा सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव डालने जैसी घटनायें घटती रहती हैं, जिनका विरोध अहिंसक तरीकों से किया जा सकता है। इन्हीं तरीकों से मध्यस्थता या शांति स्थापित करने के बहाने अपना आधिपत्य जमाने आने वाले विदेशियों से भी निबटा जा सकता है।

फिर, गांधी जी स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल देते हैं, जो अभी के बाजारवाद और उदारीकरण जैसे हमलों से बचने का विकल्प है। उल्लेखनीय है कि अंग्रेज भी भारत में व्यापार करने आये थे और भारतीय लोभ में पड़कर उन्हें हिन्दुस्तान दे दिये। इस बात की विस्तृत चर्चा गांधी जी *'हिन्द स्वराज्य'* में करते हैं। आज भी यही स्थिति है। दुनिया के विकसित देश अपना माल बेचने के लिए विकासशील देशों को बाजार बना रहे हैं, उदारीकरण के नाम पर उनका शोषण कर रहे हैं और इस प्रकार आर्थिक मोर्चे पर उन्हें अपना गुलाम बनाने में लगे हैं। गांधी जी *'मंगल प्रभात'* नामक पुस्तक में लिखते हैं "स्वदेशी वह भावना है जो अपने राष्ट्र के साथ–साथ पड़ोसी राष्ट्रों की सेवा करते हैं।"[9] अर्थात् वसुधैव कुटुम्बकम् की आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करता है।

वर्तमान में 21वीं सदी की कई चुनौतियां हैं– जैसे सामूहिक संहार, परमाणु बम, जैविक एवं रासायनिक आयुध की पूर्ण समाप्ति से जेनेटिक इंजीनियरिंग के दुरुपयोग को रोकना, प्रदूषण निक्षेपण एवं ओजोन परत की रक्षा, उग्रवाद, विघटनवाद, आपराधिक मनोवृति पर नियंत्रण तथा जीवन के नैतिक मूल्यों की प्रधानता की स्वीकृति इत्यादि। हमारे समक्ष उपस्थित इन कई चुनौतियों से निपटने के लिए मानव को अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को धारण करना अति आवश्यक है। इसी से विश्व–बंधुत्व की भावना को जागृत किया जा सकता है।

पश्चिम में अहिंसा की बात करना एक फैशन हो गया है। वे इसे एक शक्तिहीन हथियार मानते हैं। मनुष्यों में आध्यात्मिक एवं अहिंसात्मक प्रवृत्ति एक ही दिन में पैदा नहीं की जा सकती। इसके लिए विश्व के मानवों में करुणा, दया, प्रेम, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की भावना को क्रमिक रूप में लाना होगा। गांधी जी की अहिंसा–नीति द्विधारू तलवार की तरह है। इसी अहिंसात्मक द्विधारू तलवार के प्रयोग (अहिंसा स्वरूप को) से दक्षिण अफ्रीका से लेकर हिन्दुस्तान में क्रांति का सूत्रपात हुआ, जो सत्य और अहिंसा के आधार पर अहिंसात्मक आन्दोलन का प्रतीक बन गया।

इस प्रकार मानवों में अहिंसा के लिए विश्व–अभियान छेड़ने की दिशा में पहला चरण अज्ञान को हटाना है, क्योंकि सच्चे ज्ञान में आत्मबोध और आत्म–नियंत्रण निहित है। अहिंसा इस ज्ञान की परम अवस्था है क्योंकि वह दूसरों से अपने संबंधो का तादात्म्य करना सिखाती है।

प्रेम और करुणा केवल हिन्दू, बौद्ध एवं जैन, इस्लाम, सिख धर्मों में ही नहीं है। यह तो सभी धर्मों में समान रूप से कहीं न कहीं निहित है। ईसामसीह ने भी कहा है– दुश्मनों से प्यार करो। उपनिषद्, गीता एवं अन्य शास्त्रों में सभी जीवों में आत्मा का निवास बताया गया है। इसलिए हिंसा अधर्म है। कुरऑन् में भी कहा गया है कि सभी आपस में भाई–चारे का संबंध रखें, क्योंकि सब अल्लाह के बन्दे हैं। इकबाल ने कहा है– "मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।" इसलिए आज विश्व के युवकों में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के साथ–साथ अहिंसात्मक प्रवृत्ति को कायम किया जाय तभी विश्व में एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकेगी। गांधी जी इस बात को बराबर कहते थे कि अहिंसा और कायरता दोनों साथ–साथ नहीं चल सकती। उन्होंने साफ कहा कि कायरता से हिंसा अच्छी है। इस प्रकार वर्तमान समय में गांधी जी का अहिंसक नीति–दर्शन ही प्रसांगिक है, क्योंकि इसी अहिंसात्मक नीति से एक स्वस्थ एवं आदर्श समाज का निर्माण किया जा सकता है।

शोधार्थी

मो.-झीलगंज, पो.- नईगोदाम, गया (बिहार)

संदर्भ

1. स्पीचेज – पृष्ठ–807
2. हरिजन– 10–2–40, पृष्ठ– 445
3. ऐथिकल रेलिजन, पृष्ठ– 23–24
4. रामधारी सिंह दिनकर– संस्कृति के चार अध्याय– पृ. 53.
5. हरिजन– 22–9–40, पृष्ठ– 289
6. यंग इंडिया भाग–2, पृष्ठ–364.
7. हिन्द स्वराज गांधी जी– पृष्ठ– 60
8. यंग इंडिया भाग–1, पृष्ठ–714
9. मंगल प्रभात– गांधी जी
10. आत्मकथा– गांधी जी

सामाजिक-न्याय : एक परिचर्चा

डॉ. संजय कुमार

प्राचीन काल में न्याय के निर्धारण का आधार ईश्वरीय था। ईश्वर या किसी पैगम्बर द्वारा जो कुछ कहा गया वह न्याय था। विवादास्पद प्रकरणों पर संत, पीर, पादरी, जो ईश्वरीय–शक्ति से विभूषित माने जाते थे, के मत को निर्णायक माना जाता था। दैवी शक्ति के नाम पर समाज में पुरोहित वर्ग का न्यायिक वर्चस्व था। किन्तु यह व्यवस्था लंबे समय तक कायम नहीं रही। कालान्तर में न्याय–सूचक मापन का आधार ईश्वरीय संसर्ग के स्थान पर शक्ति पर आश्रित हो गया। सर्वषक्ति–सम्पन्न होने से राजा लौकिक–जीवन में न्याय का प्रतिरूप बना। राजतंत्र का विकास वास्तव में ईश्वरतंत्र से धर्मतंत्र की रक्षा के उद्देश्य से हुआ, जिसके परिणामस्वरूप राजशाही के दौर में न्याय के निर्धारण तथा न्याय की स्थापना में सामंत व पुरोहित दोनों वर्गों की मिली–जुली भागीदारी रही। तदनुसार धर्म तथा धर्म–सम्मत व्यवस्था की रक्षा करना राजा का मुख्य दायित्व हो गया। किन्तु धार्मिक कार्यों के संपादन का अधिकार पुरोहित वर्ग के पास ही रहा। इस प्रकार अतीत में न्यायिक अधिकार अर्थात् न्याय संबंधी नियमों के निर्माण, उनकी व्याख्या और उन्हें लागू करने का अधिकार समाज में सीमित लोगों के हाथ में था।

विज्ञान के विकास के साथ चिंतन के क्षेत्र में व्यक्ति स्वतंत्र हुआ। परिणामस्वरूप अनुभव, तर्क एवं युक्तिपरक तथ्य, जिनकी स्थापना किसी भी व्यक्ति द्वारा, चाहे वह कुलीन या अकुलीन हो, की जा सकती थी, लौकिक आचरण के आधार बने। नवजागरण का सूत्रपात हुआ। फ्रांस की राज्य–क्रांति का जनजीवन पर व्यापक एवं दूरगामी प्रभाव पड़ा। न्यायिक विकास के इस चरण में तीन प्रकार के परिवर्तन दिखाई दिए :

1. न्याय का ईश्वरीय आधार समाप्त हो गया।
2. लौकिक कानून का आधार नैतिकता हो गई जो विज्ञान एवं तर्क पर आधारित थी, न कि धर्म पर निर्भर थी।
3. वंष, कुल, वर्ण एवं जाति संबंधी जन्मगत न्यायिक विशेषाधिकार समाप्त हुए। फलस्वरूप, मानव–समाज में न्याय की 'मानव–अधिकार', 'सुरक्षात्मक

भेदभाव' एवं 'कल्याणकारी राज्य' की धारणाएँ सामाजिक–न्याय की उपर्युक्त प्रवृत्ति की परिचायक हैं।

भारत में नवजागरण की तीन दिशायें थीं :–

1. समाज में एक नव–प्रबुद्ध वर्ग का उदय हुआ जिसने आडम्बर और अंधविश्वास का खुल कर विरोध किया और वैज्ञानिक–चिंतन को ग्रहण किये जाने पर जोर दिया।
2. धर्म को कर्मकांड और पाखंड से मुक्त कर बुनियादी आध्यात्मिक सिद्धांतों के आधार पर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया और
3. सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने के उद्देष्य से नई संस्थाओं का गठन किया गया और आधुनिक शिक्षा के प्रचार व प्रसार के लिए स्कूलों व कॉलेजों की स्थापना की गई।

राजा राममोहन राय (1772–1833) पुनर्जागरण के प्रणेता और आधुनिक भारत के जनक थे। राजा राममोहन राय की दृष्टि तार्किक तो थी ही, वे नैतिक व मानवतावादी भी थी। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म–समाज की स्थापना की, जिसके माध्यम से उन्होंने समाज के आचार–विचार में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। वर्ष 1829 नव–हिन्दू–समाज के इतिहास का स्वर्णिम प्रभात बनकर आया जबकि राजा राममोहन राय हिन्दू–नारी को अमानवीय और घिनौनी सती–प्रथा से मुक्त कराने में सफल हुए। सती–प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय की विजय वस्तुतः दासत्व के विरुद्ध स्वतंत्रता की, अन्याय के विरुद्ध न्याय की, असमानता के विरुद्ध समानता की, कट्टरवादिता के विरुद्ध प्रगतिशीलता की और परम्परावादिता के विरुद्ध आधुनिकता की विजय थी।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू–समाज में प्रचलित तत्कालीन उत्तराधिकार के नियम को भेदभावपूर्ण बताया क्योंकि उसमें नारी के साथ न्याय नहीं किया गया था। अपने लेख 'मॉडर्न एनक्रोचमेंट आन द एनसेन्ट राइट्स ऑफ फीमेल एकार्डिंग टू द हिन्दू लॉ ऑफ इनहेरिटेन्स' (1829) में उन्होंने नारी को परिवार की सम्पत्ति में न्यायपूर्ण अधिकार प्रदान किए जाने का पुरजोर समर्थन किया।

राजा रामामोहन राय शिक्षा के प्रसार को बहुत महत्त्व देते थे, फलस्वरूप उन्होंने आधुनिक उदार व प्रबुद्ध शिक्षण–पद्धति को अपनाने पर जोर दिया जिसके द्वारा लोगों को गणित और आधुनिक विज्ञान की विविध विधाओं की जानकारी प्रदान की जा सके। राजा राममोहन राय ने 1816–17 में भारतीयों की सहायता से कलकत्ता में प्रथम अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की तथा 1822–23 में हिंदू कॉलेज खुला।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने जाति–व्यवस्था का विरोध किया, फलस्वरूप 1875 मे आर्य–समाज की स्थापना की। दयानंद ने हिंदू समाज में ऊँच–नीच और छुआछूत का खुलकर विरोध किया और शुद्धि के माध्यम से अस्पृश्यों व अन्य हिन्दुओं

के लिए, जो पूर्व मे मुसलमान या ईसाई बन गए थे, हिन्दू धर्म में लौटने का मार्ग प्रशस्त किया । आर्य–समाज ने शूद्रों तथा दलितों को जनेउ पहनने, मंत्रोच्चार करने तथा वेद पढ़ने की स्वतंत्रता प्रदान कर उन्हें सामाजिक हीनता से मुक्ति दिलाने का उल्लेखनीय कार्य किया तथा धार्मिक सुधार के साथ शिक्षा के प्रचार और प्रसार में भी महती भूमिका अदा की।

जस्टिस एम. जी. रानाडे के नेतृत्त्व में 1877 में प्रार्थना–समाज की स्थापना हुई । प्रार्थना–समाज ने ब्रह्म–समाज और आर्य–समाज की सामाजिक समानता की धारणा और जाति–विरोधी आंदोलन को व्यापक और मजबूत बनाने का काम किया। अतः इसने 1898 में एक पृथक मिशन की स्थापना की।

उपर्युक्त धर्म–सुधार आंदोलनों ने हिन्दू समाज की परम्परात्मक जड़ता को भंग कर इसे अधिक लचीला व प्रगतिशील स्वरूप प्रदान किया। किन्तु इनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि ये जनसाधरण को अधिक सक्रिय करने में असफल रहे। परिणामस्वरूप इनका प्रभाव वृहत् हिन्दू समाज की तुलना में कुछ सीमित लोगों तक ही रहा। ब्रह्म–समाज और प्रार्थना–समाज शिक्षित व्यक्तियों में अधिक लोकप्रिय रहे जबकि आर्य–समाज का प्रभाव मुख्यतया पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश की मध्यम जातियों तथा हिन्दू धर्म में पुनरीक्षित व्यक्तियों पर ही अधिक रहा।

महाराष्ट्र से लेकर संपूर्ण दक्षिण भारत में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष जारी था। इन संघर्षों का नेतृत्त्व अधिकांशतया निम्न जातियों के व्यक्तियों के हाथ में था। ये आंदोलन जाति–भेद व छुआछूत के विरुद्ध तो थे ही, इनका एक अन्य उल्लेखनीय पक्ष था – ब्राह्मण–वर्चस्व का विरोध, इसलिए इन्हें अब्राह्मण आंदोलन भी कहा गया है।

सर्वप्रथम फूले ने जून 1843 में अछूतों के लिए एक विद्यालय की स्थापना की तथा महाराष्ट्र में 1873 में 'सत्य–शोधक समाज' की स्थापना की। फूले की पत्नी सावित्री फूले ने महिलाओं में जागृति उत्पन्न करने तथा उन्हें शिक्षित करने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। इसी प्रकार मैसूर में सामाजिक भेदभाव और ऊँच–नीच के विरोध में वोक्कालिंग और लिंगायत संगठित हुए। उनकी देखा–देखी अछूत भी अपनी मुक्ति के लिए एकजुट जुए। मद्रास में बी पंतलू और आर. वेंकटरमन ने जाति के विरुद्ध आवाज उठाई और दलितों की दयनीय दशा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।[1]

जाति–व्यवस्था के खिलाफ पंजाब में आदि–धर्म आंदोलन (1926) का सूत्रपात हुआ। आदि–धर्म आंदोलन के जनक स्वामी अच्युत आनंद थे, जो निम्न जाति के थे । इस आंदोलन के पीछे मान्यता थी कि अछूत द्रविण जाति के भारतीय मूल निवासी हैं, जाति–व्यवस्था बाह्य लोगों द्वारा उन पर थोपी गई है। यह भारत की मूल व्यवस्था नहीं है। अतः इन आंदोलनों में 'जाति अन्तर्विवाह' के नियम तथा

जातीय भेदभाव का विरोध किया। इसी प्रकार तमिलनाडु में 'आदि–द्रविण आंदोलन', आन्ध्र में आदि–आन्ध्र आंदोलन, कर्नाटक में आदि–कर्नाटक आंदोलन, कानपुर में 'आदि–हिन्दू आंदोलन' तथा महाराष्ट्र में अम्बेडकर के नेतृत्त्व में आयोजित 'महार–आंदोलन' मुख्य हैं।

बीसवीं सदी के आरंभ में श्री नारायण गुरु स्वामी ने दलितों की मुक्ति को सिद्धांत के आधार पर हिन्दू धर्म के समानान्तर एक नए धर्म का प्रतिपादन किया जो 'श्री नारायण धर्म' के नाम से जाना जाता है।

स्वामी विवेकानंद राष्ट्रीय आंदोलन के आध्यात्मिक जनक थे। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त अंधविश्वास व कर्मकांड पर गहरा प्रहार किया। उनका कहना था कि उस जाति से तुम क्या आशा कर सकते हो जो सैकड़ों वर्ष तक यह जटिल प्रश्न हल करती रह गई हो कि पानी भरा लॉटा दाहिने हाथ से पीना चाहिए या बायें हाथ से। इससे और अधिक अवनति क्या हो सकती है कि देश के बड़े–बड़े मेधावी भोजन के प्रश्न को लेकर तर्क करते हुए सैकड़ों वर्ष बिता दें, इस बात पर विवाद करते हुए कि तुम हमें छूने लायक हो या हम तुम्हें और छूत–अछूत के कारण कौन–सा प्रायश्चित करना पड़ेगा।

विवेकानंद ने रामकृष्ण–मिशन की स्थापना की। मिशन के माध्यम से उन्होंने देश में धार्मिक व सामाजिक सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। *महाभारत* को उद्धृत करते हुए विवेकानंद ने कहा कि सतयुग के आरंभ में एक ही जाति– ब्राह्मण थी और फिर पेशे के भेद से वह भिन्न–भिन्न जातियों में बँटती गई. ....भविष्य में जो सतयुग आ रहा है उसमें ब्राह्मण रूप में परिमित होगी। इसलिए भारतीय जाति–समस्या की मीमांसा इस प्रकार होती है। भू–उच्च वर्गों को मिटाना नहीं होगा, ब्राह्मणों का अस्तित्व लोप करना नहीं होगा। जातियों का आपस में झगड़ना बेकार है, बल्कि नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा।[2]

विवेकानंद देशभक्ति को बहुत महत्त्व देते थे। देशभक्ति से उनका आशय सामाजिक–न्याय पर आधारित एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए पहल करना है। विवेकानंद के अनुसार बड़ा काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है :–

1. हृदय की अनुभव–शक्ति
   देश की दुर्दशा : गरीबी, भूखमरी और अज्ञान का अनुभव करना।
2. देश की इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए कोई कर्त्तव्य–पक्ष निश्चित करना तथा
3. इस कर्त्तव्य–पथ पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ना।

विवेकानंद की दृष्टि में भूखे, नंगे, गरीब और निरक्षर जो अधिकांशतया निम्न वर्गों/जातियों के हैं, उनके उद्धार के लिए कार्य सामाजिक–न्याय की स्थापना का कार्य है और इस मार्ग पर दृढ़तापूर्वक बढ़ना ही धीर–पुरुष का कार्य है।

गाँधी का लक्ष्य था सर्वोदय–समाज की स्थापना। सर्वोदय–समाज से गाँधी का तात्पर्य एक ऐसे समाज से था जिसमें सभी उन्नत हों, सभी सुखी हों, सभी के साथ न्याय हो। गाँधी यह जानते थे कि सर्वोदय–समाज की उनकी परिकल्पना तब तक सार्थक नहीं हो सकती जब तक कि समाज के निर्बल व कमजोर वर्ग, विशेष रूप से महिलायें और अछूत समुन्नत नहीं होते। इसलिए उन्होंने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के साथ महिला–उत्थान तथा हरिजनों के उद्धार के कार्यक्रमों को अपने हाथ में लिया।

गाँधी देश में अछूत वर्ग की अकल्पनीय समस्याओं और अमानवीय जीवन–दशाओं से अनभिज्ञ नहीं थे। वे इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि जब तक इस वर्ग का उद्धार नहीं होता तब तक 'सर्वे सुखिनः सन्तु' की कल्पना पर आधारित उनके सर्वोदय–समाज का सपना साकार नहीं हो सकता।

भारत में सामाजिक–न्याय की स्थापना के लिए किए गए संघर्ष का इतिहास डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अवदान का उल्लेख किए बिना कभी पूरा नहीं हो सकता। अम्बेडकर एक विद्रोही थे जिन्होंने सबको राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय दिलाने के लिए संघर्ष किया। आधुनिक युग में न्यायपूर्ण–समाज की रचना के लिए देश में जिन सुधारकों ने कार्य किया उनमें से अधिकांश को इस कार्य के लिए प्रेरणा परानुभूति–वश मिली । केवल डॉ. अम्बेडकर ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें यह स्वानुभूति–वश मिली। अछूत परिवार में जन्म लेने के कारण सामाजिक भेदभाव और तिरस्कार की जो पीड़ा अम्बेडकर ने झेली थी वह किसी अन्य ने नहीं। विशेष रूप से दलितों के उद्धार के लिए संघर्ष को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय निरूपित किया। बहुत स्पष्ट शब्दों में अम्बेडकर ने कहा कि जिस दलित जाति में मैं पैदा हुआ उसे मुक्ति दिलाना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। यदि मैं इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता तो गोली मार कर अपना जीवन समाप्त कर दूँगा। यह स्वीकारोक्ति सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रति अम्बेडकर की प्रतिबद्धता और समर्पण को दर्शाता है।

अम्बेडकर सवर्णों के हृदय–परिवर्तन और सामाजिक सुधार संबंधी गांधी के कार्यक्रमों पर भरोसा नहीं करते थे और न ही वे दलितों की मुक्ति के लिए लंबे समय तक इन्तजार करने के पक्ष में थे। उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्रता और समानता संबंधी जो अधिकार दलितों से अतीत में छीन लिए गये उनकी पुनर्प्राप्ति याचना से नहीं अपितु कठिन संघर्ष से ही हमें मिल सकती है।[3]

अम्बेडकर मानते थे कि समानता और सामाजिक–न्याय की स्थापना का काम संतों के वष का नहीं है। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि संतों ने कभी जाति–प्रथा का अस्पृष्यता के खिलाफ अभियान नहीं छोड़ा।[4] इस दुनिया में क्या होता है, विभिन्न समूहों की क्या स्थिति है और उनके इहलौकिक संघर्ष क्या हैं इन बातों की उन्हें चिंता नहीं थी। उनकी चिन्ता थी आदमी और परमात्मा के बीच

संबंध। संतों ने कभी नहीं कहा कि सभी मनुष्य बराबर हैं। उन्होंने कहा कि सभी मनुष्य ईष्वर की नजरों में बराबर हैं। यह बहुत भिन्न और हानिप्रद प्रस्थापना है जिसका उपदेश देना किसी के लिए मुश्किल नहीं है। संतों ने कभी जाति को नष्ट करने की, इस दुनिया में ऊँच–नीच के भेद को समाप्त करने की बात नहीं की।

दलितों में शिक्षा के प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने बहिष्कृत–हितकारिणी–सभा (1924), डिणेस्डू क्लास एजुकेशन सोसायटी (1928), तथा पीपुल्स एजुकेशन सोसायटी (1946) की स्थापना की।

सामाजिक–न्याय की स्थापना में डॉ. अम्बेडकर के अवदान की चर्चा करते समय उनके वैधानिक एवं संवैधानिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। ब्रिटिश भारत की वायसराय–कौंसिल के लेबर मेम्बर (1942–46) के रूप में अम्बेडकर ने महिला श्रमिकों व पुरुष श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए तत्कालीन श्रम–सन्नियमों में संशोधन किए और उन्हें सुरक्षा प्रदान करने तथा उनके कल्याण के लिए अनेक योजनाएँ लागू की। इस दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार से दलितों के लिए छात्रवृत्ति तथा शासकीय सेवाओं में आरक्षण का भी प्रावधान कराया। संविधान की मसौदा समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं श्रमिकों को न्याय दिलाने के उद्देश्य से संविधान में अनेक प्रावधान किए। कानून मंत्री के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू कोड–बिल की रचना की जो हिन्दू महिलाओं की मुक्ति तथा हिन्दू समाज के पुनर्गठन की दिशा में उनका अविस्मरणीय योगदान है।

निष्कर्षतः स्वतंत्रता और समानता सामाजिक न्याय के मूलभूत तत्त्व हैं। दोनों में से किसी एक का अभाव सामाजिक न्याय का अभाव है। स्वतंत्रता व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए जरूरी है। इसके विपरीत समानता के अभाव में स्वतंत्रता के नाम पर समाज में कुछ लोग बहुसंख्यक लोगों पर वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो जाते हैं, जिससे दासत्व की स्थिति निर्मित हो जाती है।

सामाजिक न्याय की स्थापना का जो लक्ष्य स्वाधीनता आंदोलन के दौरान निर्धारित किया गया था उसे दृष्टिगत रखते हुए संविधान सभा ने संविधान की रचना की । संविधान निर्माताओं ने संविधान के माध्यम से सामाजिक न्याय पर आधारित भावी भारतीय समाज की परिकल्पना की और उसे मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए संविधान में आवष्यक उपबन्ध एवं प्रावधान किए। इस संबंध में मुख्यरूप से निम्न तीन प्रकार के प्रयास किए गए :–

1. परम्परात्मक शास्त्रीय नियमों, जो भेदभाव व अन्याय पर आधारित थे, को समाप्त कर दिया गया। उनके स्थान पर संविधान के रूप में सामाजिक न्याय पर आधारित एक नई संहिता को अंगीकार किया गया।

2. संविधान व उसके अनुगामी नए विधानों के लागू होने के साथ जाति व जाति से संबंधित जजमानी एवं जमींदारी व्यवस्थाओं आदि का वैधानिक अस्तित्व समाप्त हो गया। शोषण व अन्याय पर आधारित इन संस्थाओं के वैधानिक आधार की समाप्ति के साथ न्याय पर आधारित समतावादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। ग्राम–पंचायत, विधायिका, स्वतंत्र मिल व कारखानों, बैंक व सहकारिक होटल एवं अस्पताल तथा नौकरशाही आदि संस्थाओं का विकास हुआ जिससे समाज में परम्परात्मक भेदभाव एवं परम्परात्मक जातीय पहचान कमजोर हुई।

3. संवैधानिक निर्देशों के अनुरूप समाज के अशिक्षित, कमजोर, निर्धन तथा अन्याय व शोषण से पीड़ित तबकों के उत्थान के लिए शासन द्वारा समयबद्ध व नियोजित कार्यक्रम का क्रियान्वित किया जाना भी सामाजिक न्याय की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

मोडल हाई स्कूल, आरा

संदर्भ

1. *सिंह, आर.जी. 1986, भारतीय दलितों की समस्यायें एवं उनका समाधान मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।*
2. *विवेकानंद साहित्य, 1973, खण्ड 4, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता।*
3. *कौर, धनंजय, 1981, डॉ. अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन्स, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।?*
4. *लिमये, मधु, 1990, डॉ. अम्बेडकर : एक चिंतन, वल्लभभाई पटेल एजुकेशनल सोसायटी, नई दिल्ली।*

स्त्रीवाद - इतिहास के आइने में

डॉ. कुमकुम रानी

वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीयों के सभी आदर्श स्त्री–रूप में पाए जाते थे। विद्या का आदर्श 'सरस्वती में, धन का लक्ष्मी में, शक्ति का दुर्गा में, सौन्दर्य का 'रति' में, पवित्रता का 'गंगा' में– इतना ही नहीं सर्वव्यापी ईश्वर को भी 'जगत्–जननी' के नाम से सुशोभित किया गया है। नारी में समस्त देवताओं की सम्मिलित शक्ति के तुल्य बल है। प्राचीन युग में चाहे घर हो या परिवार, हर जगह नारी की स्थिति बहुत ही अच्छी थी। शिक्षा में वह बहुत आगे थी, यजुर्वेद में उसे 'सोमपृष्ठा' कहा गया है। वेद मंत्रों का अर्थ बताने वाली स्त्री ऋषिकाल में थी। जैसे – लोपामुद्रा, ऋद्धा, सरमा, रोमषा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि। बालिकाओं के लिए शिक्षा–ग्रहण करना उतना ही आवश्यक था जितना कि बालकों के लिए। बाल–विवाह की प्रथा नहीं थी।

'पूर्ण ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।'

आत्मिक विकास की दृष्टि से भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ एक ही क्षेत्र में विचरण करती थीं। आध्यात्मिक ज्ञान के साथ–साथ धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री का पुरुष के बराबर ही अधिकार था। उस काल में स्त्री संजीवनी–शक्ति थी जो हिन्दू जाति के अंदर जीवन–संचार करती रही। स्वयं ब्रह्मा ने स्वीकार किया है कि देवी ही इस ब्रह्मांड को धारण करती है।

'अतुलं तत्र ऋेजः सर्वदेवशरीरजम्
एकस्थ तदभूत्रारी व्याप्तलोकत्रयं त्विवा।''

बृहदराण्यक उपनिषद् में ब्रह्मवेत्ता गार्गी की कथा का उल्लेख है जिसने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। *अथर्ववेद* में स्त्री को 'साम्राज्ञी' का नाम दिया गया है। भारत में मध्यकाल में भी स्त्रियों के अगाधपंडित होने के दृष्टांत पाए जाते हैं। स्त्री का यह युग भारत के इतिहास का 'स्वर्णिम युग' कहा जा सकता है। एक विद्वान् का कथन है कि यदि किसी देश के सांस्कृतिक स्तर का पता लगाना है तो पहले यह देखो कि वहाँ की स्त्रियों की अवस्था कैसी है। इस सत्य का प्रमाण देते हुए मनु ने कहा है –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तजापफलाः क्रियाः।।[1]

जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में ऐसा नहीं होता उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं।

लेकिन यह स्थिति देर तक न रह सकी। स्त्री के दिव्यगुण धीरे–धीरे उसके अवगुण बनने लगे। साम्राज्ञी से वह धीरे–धीरे आश्रिता बन गई। जो स्त्रियाँ वैदिक युग में धर्म का और समाज का प्राण थीं उन्हें श्रुति का पाठ करने के अयोग्य घोषित किया गया।

स्मृति–युग में स्त्रियों की स्थिति और भी गिर गई। उनका जो कुछ भी सम्मान इस युग में होता था वह केवल माता के रूप में होता था, न कि पत्नी के रूप में। इस युग में विवाह की आयु घटाकर 12 या 13 वर्ष कर दी गई जिससे शिक्षा न के बराबर हो गई। स्त्रियों के समस्त अधिकारों का अपहरण कर लिया गया। स्मृतिकारों ने यह निर्देश दिया कि स्त्रियों को किसी भी अवस्था में स्वतंत्र ना रखा जाए; बचपन में उन्हें पिता के संरक्षण में, युवावस्था के पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रखना ही उचित होगा। इस बात को *मनुस्मृति* में कहा गया है।

बाल्या वा युवत्या वा वृद्धया वापि योशित।
न स्वतंत्रयेण कर्त्तव्यं किम्चित्कार्य गृहेष्वपि।।

इसका अर्थ है कि बालिका हो या युवती या वृद्धा, स्त्री को स्वतंत्रतापूर्वक घर का कोई काम नहीं करना चाहिए।

बाल्ये पितुर्वषे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्रीस्वतंत्रताम्।[2]

स्त्री बाल्यकाल में पिता के, यौवनावस्था में पति के, और पति के परलोक होने पर पुत्रों के अधीन होकर रहे। कभी स्वतंत्र होकर न रहे।

स्मृतियुग में यह माना गया कि स्त्रियों का परम कर्त्तव्य पति की सेवा करना है चाहे वह पति किसी भी तरह का हो।

मध्यकालीन युग में मुगलसाम्राज्य की स्थापना के बाद स्त्रियों की दशा और भी दयनीय हो गई। गृहस्थी ही उनके समस्त कर्म और आशाओं का एक मात्र केन्द्र हो गई। स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के लिए इस युग में हिन्दुओं ने उन्हें जन्म से मृत्यु तक पुरुष के अधीन कर दिया और उनके समस्त अधिकार और स्वतंत्रता को छीन लिया ।

लेकिन ये स्थितियाँ मुख्यतः उच्च जातियों की स्त्रियों को ही अभिव्यक्त करती हैं, क्योंकि निम्न जातियों की स्त्रियों की स्थिति सदैव ही उच्च जातियों की स्त्रियों की स्थिति से भिन्न रही है।

मध्यकालीन युगों में तो स्त्रियों की स्थिति अत्यधिक दयनीय थी ही लेकिन आधुनिक समय में भी उनकी निर्योग्यताएँ कम नहीं हुई। स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारणों में एक मुख्य कारण कन्यादान का आदर्श और कुलीन विवाह था जो मुख्य रूप से दहेज प्रथा के कारण के रूप में उभर कर हमारे सामने आया।

'स्त्री शूद्रो नाधीयताम्' जैसे वाक्य रचकर उसे शूद्र की कोटि में रख दिया। स्त्री के विवाह–संस्कार के अतिरिक्त और सभी संस्कारों से वंचित कर दिया।

वैवाहिको विधि :– स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतिः।[3]

सनातक वैदिक काल के उच्च सुदृढ़ आदर्शों की इमारत ढह चुकी थी। फिर पुरुष ने स्त्री को अपनी भोग्य वस्तु बना लिया था, वह पशु की तरह पराधीन हो चुकी थी। तभी तो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि ने कहने की हिम्मत दिखाई।

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी ये सब ताड़न के अधिकारी'। दूसरे भक्त कवि कबीर ने तो नारी की परछाई से बचने का उपदेश दिया है।

"नारी की आई परत अंध होत भुजंगा।
तिनकी का गति जो नित नारी के संग"।।

धीरे–धीरे बाल–विवाह, पर्दे की बेड़ियाँ तथा अविद्या का अंधकार नारी–समाज के लिए अभिशाप बनने लगे। स्वेच्छाचारिता तथा अमानुशिकता की पराकाष्ठा हो गई थी, क्योंकि आत्मज्ञान में निमग्न पुरुषों ने स्त्री की चर्चा करना वैषयिकता का लक्षण माना और विरक्तों ने उसका अवलोकन करना निशिद्ध माना। विलासियों और कवियों ने उसे विलास की वस्तु समझा। गृहस्थों ने माता, भगिनी तथा कन्या के रूप में उसे देवता या पवित्र धरोहर माना। परन्तु इसमें से किसी ने भी उसे तुल्य–स्वत्व और तुल्य–पराक्रम मानव नहीं माना।

अठारहवीं शताब्दी में स्त्रियों की हालत जितनी खराब थी उसमें 19वीं सदी में कुछ सुधार आया। धार्मिक आडंबर, रूढ़िगत विचार, परम्परागत सामाजिक संस्कार सभी ने मिलकर अंधकार का ऐसा परिवेश भारतीय जीवन के चारों तरफ निर्मित कर दिया था कि उसे तोड़ सकना सहज संभव नहीं था। रही–सही स्थिति भी घोर निराशा के कारण और भी शोचनीय हो गई थी। इस बर्बर युग के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप राजा राममोहन राय हमारे सामने आये, जो नारी जाति की वकालत लगातार करते रहे। नारी पर होने वाले अनेकों सामाजिक अत्याचारों को उन्होंने खत्म किया और स्त्री–शिक्षा का प्रबंध किया। आर्य–समाज की स्थापना हुई जिसने शुद्ध भारतीय प्रणाली पर जोर दिया। यह युग प्रतिक्रिया का युग था।

सामाजिक व्यवहार और रीति–रिवाज जन्म से ही स्त्रियों के विकास में इतने बाधक होते हैं कि उन्हें अपनी आन्तरिक शक्तियों के विकास का अवसर ही नहीं मिल पाता। आज महिला–मुक्ति भारत के शौक की वस्तु नहीं रही बल्कि एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है ताकि राष्ट्र भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से

अधिक संतोषजनक जीवन की ओर अग्रसर हो सके। महर्षि कर्वे, गांधीजी जैसे बड़े–बड़े नेताओं के भी यही विचार हैं कि स्त्री–जाति को सुरक्षित बनाना चाहिए ताकि शिक्षा से वे और भी सुधर सकें।

भारत में अभी तक नारियों की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। उन्हें अपने जन्मजात अधिकार प्राप्त न थे। राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन से उनका संबंध टूट चुका था। वे घर की चारदीवारों में बंद रहने वाली गठरी थीं। धार्मिक रूप से भी उनका स्थान निम्न कोटि का था। कहा जा सकता है कि नारियों में केवल प्राणस्पंदन शेष था, जीवन–गति अवरुद्ध हो गई थी। इसी समय यूरोप में होने वाले परिवर्तन से भारतीय नारी भी प्रभावित हुई। प्राचीन मान्यताओं एवं धारणाओं में परिवर्तन कर उन्होंने आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने की मांग समाज के सम्मुख उपस्थित की और उन्होंने संगठन–कार्य के माध्यम से राजनीतिक और पत्रकारिता से संबंधित कार्यप्रणाली को प्राथमिकता दी, जिससे एक सर्वथा नवीन सत्य प्रतिपादित हुआ कि नारियों को सामाजिक स्तर पर मान्यता प्राप्त होने लगी। विश्व के प्रायः प्रत्येक भाग में 1914–18 के महायुद्ध में नारियों की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, जिन गुणों के कारण स्त्री अब अबला नहीं रही बल्कि वे अब विष्व की राजनीति का आधार बन रही है। लेकिन अपनी स्थिति को सुधारने के लिए स्त्रियों को अपने शारीरिक सौन्दर्य को छोड़ आत्मिक सौन्दर्य का विकास करना होगा। उसे अपनी स्थिति पहचाननी होगी। स्वतंत्रता–संग्राम में भाग लेने के कारण समाज की दृष्टि में स्त्री ऊँची उठ गई। स्त्री–शिक्षा की प्रगति हुई। उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, भारत के विधान में उसे विशेष स्थान प्राप्त हो गया।

विज्ञान की प्रगति ने स्त्री को पुरुष के साथ तुल्यबल बना दिया है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक–दूसरे के रक्षक हैं। नारी को केवल आत्मनिष्ठ अर्थात् निर्भय होने की आवश्यकता है। आगे चलकर स्थिति में थोड़ा और परिवर्तन हुआ। पश्चिम की नई लहर भारतीय चेतना पर छाती गई। वहाँ की संस्कृति, वहाँ की नारियों की स्वतंत्रता, स्वच्छंद–जीवन व्यतीत करने की लालसा आदि ने भारतीय नारी को अत्यधिक प्रभावित किया और वह उन आदर्शों को अपने जीवन में ढालने को व्यग्र हो उठी ।

आधुनिक काल में भारतीय नारियों ने जितनी प्रगति की है, अपने सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिए उन्होंने जो महान् संघर्ष किया है, वह मानवीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

डॉ. एनी बेसेंट के आने के बाद देश में उत्साह की नई लहर दौड़ गई थी। मई 1917 में प्रथम महिला–संघ की स्थापना हुई। पारिवारिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। जाति–प्रथा, बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा समाप्त होने लगी।

गांधी जी ने भी पर्दा–प्रथा का जोरदार विरोध किया। उन्होंने कहा, "विद्या पाने का कार्य परदा रखने के साथ कभी नहीं चल सकता है। परदा रखकर सीता रामजी के साथ जंगलों में भटकी होंगी ? सीता से बड़ी पवित्र स्त्री जगत् में कभी हुई है ? बहनों से कहो–परदा तोड़ो। धर्म रखो।"[4]

वस्तुतः नारियों ने अपने अधिकारों के लिए सतत् प्रयत्न किया। नारियों के सामाजिक, राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने से उनकी स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारत में महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन हो रहे हैं परन्तु उन्हें तब तक बड़े और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के रूप में नहीं माना जा सकता जब तक कि व्यावंहारिक रूप से सब कुछ लागू नहीं होता। स्त्री को स्वयं प्रयत्न करना होगा। जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य भी बैठा रहता है और खड़े रहने वाले का सौभाग्य भी खड़ा हो जाता है। सोने वाले का सौभाग्य सोता है और जो चलता है उसका सौभाग्य प्रगति करता है। अतः निरंतर श्रम करते रहो।

"आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपध्यमानस्य चरति चरतो भगः।।
चरैवेति, चरैवेति।"[5]

अपनी स्थिति सुधारने के लिए अपना उद्धार खुद करना होगा। जब तक शंकराचार्य के समान प्रखर वैराग्यसम्पन्न स्त्री पैदा नहीं होती, तब तक स्त्रियों का उद्धार कृष्ण, बुद्ध और गांधीजी जैसे पुरुष भी नहीं कर सकते हैं।

दर्शनशास्त्र
पटना विमेंस कॉलेज, पटना

संदर्भ ग्रंथ

1. *मनुस्मृति – 147, पंचम अध्याय*
2. *मनुस्मृति – 148, पंचम अध्याय*
3. *भारतीय नारी – सामाजिक अध्ययन*
4. *गांधीजी वर्धा में 25/10/33 एक पत्र से डॉ. राजकुमार*
5. *ऐतरेय ब्राह्मण*

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य की समस्या

डॉ. अभय कुमार सिंह

दर्शन के तत्त्वमीमांसीय क्षेत्र में द्रव्य या तत्त्व की समस्या को लेकर कुछ मूलभूत प्रश्न हैं कि विश्व का मूलभूत तत्त्व क्या है ? तत्त्व का स्वरूप क्या है ? वह जड़ है या चेतन अथवा जड़ & चेतन दोनों है ? इन प्रश्नों के उत्तर में कई तात्त्विक सिद्धांत तत्त्व & विज्ञान में उपलब्ध हैं। समस्त तत्त्वमीमांसा प्रारंभिक तत्त्व की खोज तथा उसकी सत्तात्मक उपलब्धि पर आधारित है। दर्शनशास्त्र में तत्त्व का वर्णन द्रव्य शब्द के अन्तर्गत किया जाता है। साधारणतः द्रव्य शब्द उस शाश्वत तत्त्व की ओर इंगित करता है जो विश्व के मूल में है।

पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य की धारणा लम्बे समय तक मूल–सत्ता की अवधारणा से भिन्न नहीं रही। ''वह सत्ता, जो विश्व की समस्त वस्तुओं का मौलिक व स्थायी आधार है, जो स्वयं अपना कारण आप है, जो स्वतंत्र है, जो अन्य किसी सत्ता पर आधारित न होकर आत्मनिर्भर है, ऐसी सत्ता ही द्रव्य है''। प्लेटो ने इसी अर्थ में प्रत्ययों को द्रव्य कहा था और अरस्तू ने आकारों को द्रव्य की संज्ञा दी थी। उपर्युक्त अर्थ के सन्दर्भ में देकार्त तथा स्पिनोजा आदि के दर्शन में द्रव्य की अवधारणा स्पष्ट रूप में सामने आती है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य की समस्या के निरूपण के पूर्व यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि द्रव्य की समस्या को लेकर, उससे संबंधित स्वरूप व संख्या संबंधी सामान्य सिद्धांत क्या हैं ?

अंतिम सत्ता या द्रव्य के स्वरूप तथा संख्या के विषय में जो समस्या है, वह आध्यात्मवादी, भौतिकवादी और वस्तुवादियों के दृष्टिकोणों से उत्पन्न समस्या है। संख्या के आधार पर एकतत्ववाद, द्वैतवाद और अनेकत्ववाद या बहुतत्ववाद के नाम से तीन मत मिलते हैं, जो क्रमशः एक, दो या अनेक तत्त्वों की संख्या को मानते हैं। स्वरूप की दृष्टि से इन्हें भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और तटस्थ या निष्पक्षवाद के नाम से तत्त्वमीमांसा में जाना जाता है। कुछ दार्शनिक द्रव्य का स्वरूप जड़ और कुछ केवल चैतन्य या आध्यात्मिक या मानसिक मानते हैं। इनमें भौतिकवाद तथा आध्यात्मवाद तार्किक दृष्टि से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त किये हैं।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि विश्व का मूल तत्त्व एक है। इनको एकतत्ववादी कहा जाता है। इनमें भी दो मत है, पहला यह कि वह एक तत्व जड़ या चेतन है। दूसरा यह कि वह एक तत्व अभौतिक, आध्यात्मिक, मानसिक या चेतनतत्त्व है। इनको क्रमशः भौतिकवादी, एकतत्ववादी और अध्यात्मवादी एकतत्ववाद कहा जाता है। वे विचारक, जो विश्व के मूल तत्त्वों के रूप में जड़ एवं चेतन इन दो तत्त्वों की धारणा का प्रतिपादन करते हैं, उनको द्वैतत्ववादी कहा जाता है। दार्शनिक, जो मानते हैं कि मूल तत्त्व एक या दो नहीं अपितु अनेक हैं, उनका मत बहुतत्ववादी कहा जाता है। यह बहुतत्ववाद भी एक ओर भौतिक अणुओं को तथा दूसरी ओर चेतन अणुओं को विश्व का मूल कारण मानता है। इन दोनों मतो को क्रमशः भौतिक बहुतत्ववाद एवं अध्यात्मवादी बहुतत्ववाद कहा जाता है।

इस प्रकार तत्त्व की समस्या का विशद विवेचन दर्शन में किया जाता है। द्रव्य की समस्या को लेकर हमारी व्याख्या का मूल मन्तव्य आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के विशेष परिप्रेक्ष्य में है। द्रव्य की परिभाषा करते हुए आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक रेने डेकार्त ने कहा था कि द्रव्य वह है जिसका स्वतः अस्तित्व हो और जिसे अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व पर निर्भर न होना पड़े। डेकार्त के अनुसार द्रव्य की इस मान्यता में वास्तव में एक ही द्रव्य हो सकता है और वह ईश्वर है जो स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और निरपेक्ष है। डेकार्त ने ईश्वर को निरपेक्ष द्रव्य तथा मनस् एवं जड़ को सापेक्ष द्रव्य कहा है जो ईश्वर पर आधारित है किन्तु परस्पर एक दूसरे से स्वतंत्र है। ये दोनों परस्पर निर्भर नहीं है।

डेकार्त ने ईश्वर के अलावा मनस् तथा जड़ को द्रव्य के रूप में स्वीकार कर एक असंगत कल्पना को अपने दर्शन में स्थान दे दिया। उनकी अपनी द्रव्य की अवधारणा के अनुसार मनस् या आत्मा एवं जड़ या शरीर द्रव्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये दोनों अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर हैं। ईश्वर का अस्तित्व किसी दूसरे पर आधारित नहीं।[1] इसी कारण देकार्त्त द्रव्य को कारण रूप (*causa sui*) मानते हैं। कारण & रूप का अर्थ है परमकारण अर्थात् स्वयं अकारण होकर भी ईश्वर सबका कारण है। तत्त्व का ज्ञान हमें गुणों द्वारा होता है। तत्त्व में अनेक गुण हैं, परन्तु उसमें एक परमावश्यक गुण है जिससे द्रव्य के स्वरूप की उपलब्धि संभव है।[2]

स्पिनोजा ने डेकार्त की इस असंगत कल्पना को अपनी द्रव्य संबंधी मान्यता से दूर करने का प्रयास किया है। यद्यपि स्पिनोजा ने करीब–करीब डेकार्त के समान ही द्रव्य की परिभाषा की थी किन्तु उसकी यह धारणा डेकार्त की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है।

स्पिनोजा ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि "द्रव्य वह है जिसका अस्तित्व अपने आप पर निर्भर हो तथा जिसकी अवधारणा निश्चित करने में अन्य किसी चीज की धारणा की आवश्यकता न हो।" स्पिनोजा की दृष्टि में द्रव्य एक

है, वह आत्मनिर्भर तथा आत्म & निर्धारित है, असीम व अनन्त है, अद्वितीय, अद्वैत तथा अनिर्वचनीय है। स्पिनोजा ने इस द्रव्य को ईश्वर कहा है। यह ईश्वर द्रव्य की समस्त वस्तुओं का स्थायी और चिरन्तन आधार है। वास्तविक सत्ता एक मात्र ईश्वर की ही है।

डेकार्त व स्पिनोजा के विरुद्ध लाइबनीज ने एक नहीं, दो नहीं, बल्कि अनेक द्रव्यों को स्वीकार किया है। इस समस्या को सुलझाने के लिए कि अनेक द्रव्य एक दूसरे को सीमित कर देंगे और उनमें परस्पर निर्भरता पैदा हो जाएगी, लाइबनीज ने निदान निकाला कि प्रत्येक द्रव्य अपने आप में पूर्ण है तथा प्रत्येक सम्पूर्ण विश्व है। किसी पर किसी की कोई निर्भरता नहीं है। लाइबनीज ने ऐसे अनेक द्रव्यों को चिद्णु कहा है। यह चिद्णु एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र है। प्रत्येक चिदणु गति एवं शक्तिस्वरूप है। इस प्रकार लाइबनीज पहले–पहल गति एवं शक्ति की धारणा के साथ, द्रव्य की अवधारणा को बहुतत्ववादी दृष्टिकोण से अभिव्यक्त करता है। चिदणु अनेक हैं; फिर भी उनमें एकता है। इसका कारण ईश्वर ही है।[3]

लॉक से द्रव्य संबंधी समस्या या अवधारणा एक नया रूप लेती है। लॉक के पूर्व द्रव्य की समस्या विश्व के परिवर्तनों, अस्थायित्व तथा विनाशशीलता के बीच एक स्थायी, अविनाशी, असीमित, स्वयंभू तथा अधिष्ठान & द्रव्य की खोज थी जो वस्तुतः मूलभूत सत्ता की अवधारणा से सम्बद्ध थी।

लॉक ने उसे अपने विचारों के माध्यम से एक साधारण आनुभविक स्तर की समस्या बना दिया। लॉक के बाद आने वाले अनुभववादी दार्शनिकों को इसने काफी प्रभावित किया है। हम जब साधारण अनुभव के स्तर पर प्राप्त वस्तुओं के ज्ञान का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि वे रूप, रस, गंध, स्वाद इत्यादि कुछ गुणों के समूह मात्र हैं।[4] अतः स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या वस्तुएँ मात्र अनुभूत गुणों के समूह हैं, या गुणों के आश्रय स्वरूप कोई स्थायी द्रव्य हैं, जिस पर ये सारे गुण आधारित हैं ? यदि यह आधार न हो तो ये गुण अपने आप में कैसे रहते हैं ? अतः इनका कोई आश्रय होना चाहिए। लॉक इन गुणों के आधार को द्रव्य कहते हैं।

लॉक ने द्रव्य को गुणों का अज्ञात तथा अज्ञेय आधार माना है, क्योंकि उसका अनुभव नहीं होता। लॉक ने वस्तुओं से संबंधित अनुभूत गुणों के अज्ञात आधार को जड़ द्रव्य और प्रत्ययों के अज्ञात आधार को मन या आत्मा की संज्ञा दी है और इस समस्त विश्व के मूलभूत आधार को ईश्वर कहा है। इस प्रकार डेकार्त की तरह लॉक ने भी जड़, मन तथा ईश्वर इन तीन द्रव्यों में विश्वास किया है।

लॉक के बाद द्रव्य की समस्या मुख्यतः यही रही है कि अनुभूत गुणों के अलावा क्या उनके आश्रयस्वरूप अन्य ऐसी सत्ता है जिसे द्रव्य की संज्ञा दी जाय। बर्कले, हयूम्, मिल आदि बहुत से अनुभववादी दार्शनिकों ने अपने मत व्यक्त करते हुए माना है कि उन गुणों के आश्रय & स्वरूप किसी स्थायी आधार को मानना प्रमाण & आधारित नहीं है। अतः यह एक कल्पना मात्र है।

बर्कले ने जड़ द्रव्य का निराकरण किया और वस्तुओं के संवेदनीय गुणों को अन्ततः प्रत्ययों के अलावा और कुछ नहीं बतलाया। वर्कले ने फिर भी असंगत रूप से प्रत्ययों के आधार स्वरूप मन तथा वस्तुओं के आधार स्वरूप ईश्वर को द्रव्य मान लिया।[5] हयूम् ने द्रव्य की अवधारणा का विश्लेषण तथा खंडन किया है और उसकी सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है। उसकी मान्यता है कि बर्कले ने जिस विश्लेषण एवं तर्क के द्वारा जड़ द्रव्य को नकारा था, उसी विश्लेषण के द्वारा प्रत्ययों से भिन्न मन या आत्मा की सत्ता भी समाप्त की जा सकती है। हयूम् ने इसलिए किसी भी रूप में किसी स्थायी द्रव्य की सत्ता नहीं मानी है।[6] उसकी दृष्टि में संसार असंबद्ध संवेदनाओं का समूह मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुणों के स्थायी आधार स्वरूप जिस द्रव्य की लॉक ने कल्पना की थी वह समाप्तप्राय हो जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषण तो किसी अपरिवर्तनशील द्रव्य की सत्ता ही समाप्त कर देता है। वैज्ञानिक विश्लेषणों में परिवर्तन, गति, शक्ति या ऊर्जा को ही विश्व के मूल में पाया जाता है। वैज्ञानिक विधि से हम यदि विश्व की समस्त वस्तुओं के मूल आधार, सारतत्त्व को द्रव्य कहते भी हैं तो वह द्रव्य ऊर्जा या विद्युत–ऊर्जा है।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
आर. एन. कॉलेज, हाजीपुर

संदर्भ

1. *R.. Falckenberg, History of Modern Philosophy, p-95.*
2. *Ibid, p-95.*
3. *Leibnitz, Monadology, Translated by Hedge, p-5.*
4. *F. Mayer, History of Philosophy, p. 136.*
5. *Berkelge, Introduction to the Principles of Human Knowledge, p-146.*
6. *R. Falckenberg, History of Modern Philosophy, p-226.*

निरपेक्षवाद

राकेश कुमार

पाश्चात्य दर्शन में ब्रैडले की गणना नव्य–हेगेलवादी के रूप में की जाती है। ब्रैडले की दृष्टि में परमतत्त्व अविभाजित, समन्वित, मूर्त्त एवं व्यक्तित्वपूर्ण अनुभव है। इन्होंने परमतत्त्व के संबंध में कहा है कि यह एक असीम, अबाधित सत्ता है । इस परमसत्ता में अनेक प्रकार की विविधताएँ क्रमबद्ध रूप से सुनियोजित हैं। कांट के स्वयं–वस्तु (*thing-in- itself*) से ब्रैडले का परमतत्त्व सर्वथा भिन्न है, क्योंकि कांट ने उसे पूर्णरूपेण अमूर्त्त माना है। लेकिन ब्रैडले उसे मूर्त्त सामान्य की संज्ञा देते हैं। इसलिए ब्रैडले की परमसत्ता समन्वित, सम्पूर्णता का प्रतीक है। ब्रैडले के अनुसार "Ultimate reality is such that it does not contradict itself, here is an Absolute criterion."[1] उनकी दृष्टि में आभास आत्मविरोधी है। इससे निषेधात्मक रूप में यही निष्कर्ष निकलता है कि सत् वही हो सकता है जो अन्तर्विरोध से मुक्त हो।[2]

ब्रैडले की दृष्टि में परमसत्ता में अनेक प्रकार की विविधताएँ वर्तमान हैं क्योंकि जो प्रत्यक्ष रूप में हमें दिखाई देता है, परमसत्ता का ही अंग है। दूसरे शब्दों में, परमसत्ता आभासों का पुंज है। वास्तविकता यह है कि परमसत्ता खाली बर्तन के समान नहीं है । लेकिन प्रश्न उठता है कि ये प्रतिभास परमसत्ता के अंग कैसे हो सकते हैं ? दूसरा प्रश्न यह भी है कि परमसत्ता अपने आप को प्रतिभासों के रूप में ही क्यों प्रकट करती है ? ब्रैडले की दृष्टि में प्रतिभास परमसत्ता का ही अंग है। अतः किसी भी परिस्थिति में उन्हें इससे अलग नहीं किया जा सकता है। साथ ही साथ परमसत्ता का अपना अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए प्रतिभासों का सहारा लेना पड़ता है।

ब्रैडले के सामने एक और समस्या–मूलक प्रश्न उभरकर आता है कि कोई भी वस्तु एक ही समय प्रतिभास और सत्ता का अंग कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में ब्रैडले का कहना है कि हम लोगों की दृष्टि में अर्थात् ससीम दृष्टिकोण से कोई वस्तु प्रतिभास प्रतीत होती है, किन्तु उसी वस्तु को पारमार्थिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो वह सत्ता के रूप में दृष्टिगत होती है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट

हो जाता है कि सत्ता में प्रतिभास निहित है। लेकिन देखना यह है कि ब्रैडले ने अपने दार्शनिक चिंतन में प्रतिभास को क्यों महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। साधारण दृष्टिकोण से ऐसा लगता है कि प्रतिभास सत्ता का पूर्णतः विरोधी है, क्योंकि ब्रैडले स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रतिभास सापेक्ष, परिवर्तनशील और विभाजित है। उससे स्पष्ट होता है कि प्रतिभास सुनिश्चित ही सत्ता के स्वरूप के प्रतिकूल हैं। ब्रैडले का यह विचार बिल्कुल स्पष्ट है कि सत्ता एक, समन्वित, सरल एवं व्यापक है, जबकि प्रतिभास असन्वित और ससीम हैं।

ब्रैडले के अनुसार परमसत्ता में अनेकता और विविधता का उपस्थित होना इस बात का सूचक है कि परमसत्ता एक समग्र रूप से प्रतिभासों का समन्वय करते हुए अपने आप में Inclusive whole है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि स्पिनोजा के विचारों की खामियों का निराकरण करने का प्रयास ब्रैडले के इस विचार से व्यक्त होता है, क्योंकि स्पिनोजा द्रव्य & बहुलता एवं अनेकता की व्याख्या करने में असफल रह जाता है, जबकि ब्रैडले का प्रतिभास जगत् की सम्पूर्ण विविधता को तार्किक ढंग से स्पष्ट करता है। किन्तु आलोचकों ने इस संबंध में यह कहा है कि इनका विचार हेगेल के विचार से प्रारम्भ होता है और स्पिनोजा में जाकर अंत हो जाता है। लेकिन ब्रैडले के संबंध में इस प्रकार की आलोचना उचित नहीं जान पड़ती क्योंकि यह आलोचना एक–पक्षीय है। सत्य तो यह है कि ब्रैडले का प्रतिभास विविधता की व्याख्या करते हुए एक की व्याख्या में बाधा उपस्थित नहीं करता। ब्रैडले के अनुसार प्रतिभास सत्ता से पूर्णतः भिन्न नहीं है, और न उसका विरोधी ही है। उनके मतानुसार प्रतिभास ससीम होते हुए भी बिल्कुल असत्य नहीं है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसकी सत्यता के आगे हम प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं लगा सकते। यह बात दूसरी है कि पारमार्थिक दृष्टि से प्रतिमास असत्य है। एक उदाहरण के द्वारा इसे और अधिक बोधगम्य बनाया जा सकता है। किसी मेज का चित्र भिन्न–भिन्न कोणों से खींचा जाय तो वे चित्र निश्चित ही एक दूसरे से भिन्न होंगे। लेकिन बावजूद इस भिन्नता के इतना तो सत्य है ही कि भिन्न–भिन्न कोणों से खींचा गया चित्र एक ही मेज के अनेक चित्र हैं। चित्र के दृष्टिकोण से सभी चित्र वास्तविक हैं लेकिन मेज के दृष्टिकोण से देखा जाय तो ये चित्र अवास्तविक कहे जायेंगे, क्योंकि इन चित्रों में वास्तविक मेज अपने आप को प्रकट नहीं करता। ठीक उसी प्रकार ब्रैडले का प्रतिभास भी ससीम और विविध होते भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है।

ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक प्रतिभास समान रूप से सत्य नहीं है। जिस प्रतिभास में अधिक सामंजस्य, अधिक व्यापकता दिखाई पड़े वह निशचित ही अधिक सत्यता–मूल्य का दावा कर सकता है। ब्रैडले का यही विचार प्रतिभासों में भी मात्रा होने का द्योतक है। ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक प्रतिभास सत्ता की ही प्रतीति है किन्तु

इसकी सत्यता एक समान नहीं है। शरीर और आत्मा उनकी दृष्टि में प्रतिभास ही हैं किन्तु शरीर की तुलना में आत्मा अधिक सत्य है। ब्रैडले के इस विचार से भारतीय दार्शनिक शंकर भी लगभग सहमत हैं। उन्होंने भी सच्चिदानंद और जगत् की अनेकता की व्याख्या करने के लिए ब्रैडले के पथ को ही अपनाया है। शंकर के अनुसार सच्चिदानंद सर्वव्यापक, असीम, पारमार्थिक सत्ता है। जगत् इसकी तुलना में ससीम और बाधित सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। जगत् की विविधताओं के संबंध में शंकर ने मिथ्या शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन इस पदावली का प्रयोग विशेष संदर्भ में किया गया है। मिथ्या की व्याख्या करते हुए शंकर ने कहा है कि मिथ्या का अभिप्राय पूर्णतः असत्य होना नहीं है बल्कि आंशिक सत्यता है। उन्होंने सत्ता को तीन श्रेणियों में रखा है–

(i) पारमार्थिक सत्ता

(ii) व्यावहारिक सत्ता

(iii) प्रातिभासिक सत्ता।

सत्ता के इस विभाजन से ऐसा लगता है कि इनका विचार और ब्रैडले का विचार सामानांतर चल रहा है। जहाँ शंकर प्रतिभासों में मात्रा–भेद स्वीकार करते हैं, वहाँ ब्रैडले भी प्रतिभासों में मात्रा–भेद स्वीकार करते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी अगर हम ब्रैडले को प्रच्छन्न–शंकर मानें।

ब्रैडले के मतानुसार प्रतिभास अपूर्ण सत्ता है और इसमें केवल मात्रा का अंतर है । लेकिन *ब्रैडले* का कहना है मात्रा पदावली का व्यवहार केवल प्रतिभास के संबंध में ही उचित है, न कि सत्ता के संबंध में। ब्रैडले के शब्दों में, 'परम सत् में मात्राएँ नहीं हैं, क्योंकि वह परिपूर्ण है और पूर्णता में कोई न्यूनता एवं अधिकता संभव नहीं है। इस प्रकार के विधेयों का संबंध और सार्थकता केवल दृष्टि–जगत् में ही है।'[3] प्रतिभास एक ही परम सत्ता का भिन्न–भिन्न पहलू है जो अपने माध्यम से परमसत्ता को व्यक्त करता है। ब्रैडले का यह कहना है कि जैसे–जैसे प्रतिभास की शृंखला नीचे उतरती जाती है वैसे–वैसे उसकी सत्यता भी कमती जाती है। प्रतिभास को सत्य मानने का अर्थ यह नहीं होता कि यह सदा सत्य होता है। बल्कि यह भिन्न–भिन्न काल और परिस्थिति में बदलते रहता है। ब्रैडले ने प्रतिभास को सच मानकर जगत् को मिथ्या होने से बचा लिया और साथ ही साथ शंकर के दर्शन की त्रुटियों को अपने ढंग से परिहार्य करने का प्रयास किया । प्रतिभास किसी प्रकार के विचार की तरह नहीं है बल्कि सत्ता का वास्तविक प्रतिरूप है, अतः सत्य है।

प्रतिभास की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इन्होंने विश्व की विविधता को अक्षुण रखने के लिए जो प्रतिभास की सहायता ली है वह निश्चित ही एक सराहनीय कदम है। लेकिन बावजूद इस उपलब्धि के इसकी कुछ त्रुटियाँ हैं। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि ब्रैडले का सत्ता–संबंधी विचार, जिसमें प्रतिभासों को अवस्थित

किया गया है, दोषपूर्ण जान पड़ता है। सच पूछा जाय तो इनका सत्ता का विचार, जो प्रतिभासों का आधार है, शेर के मान की तरह है। उसमें व्यक्ति जा तो सकता है लेकिन उससे लौट नहीं सकता, क्योंकि इनका सत्ता संबंधी विचार अपने आप में अतार्किक है। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि जब सत्ता संबंधी विचार दोषपूर्ण हो तो प्रतिभास संबंधी विचार भी दोषपूर्ण ही माना जाएगा। इतना ही नहीं, ब्रैडले ने प्रतिभासों को सत्ता का व्यक्त रूप कहा है । यदि सत्ता अपने आप में असीम है तो उसके व्यक्त प्रतिभास ससीम कैसे हो सकते हैं। प्रतिभासों में भी सत्ता का अंश है जो किसी भी परिस्थिति में असत्य नहीं हो सकता । इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ब्रैडले ने दो विपरीत वस्तुओं को एक साथ उपस्थित करने का प्रयास किया है जो कि विरोधपूर्ण और अतार्किक दोनों दिखाई पड़ता है।

ब्रैडले द्वारा प्रतिभास को तार्किक ढंग से प्रमाणित करने के लिए जो भी उपक्रम किया गया हो वह ठीक उसी तरह से है जैसे जिस नाव से हमें नदी पार करनी हो और उसके पहले नाव में आग लगा दिया गया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिभास संबंधी उनके द्वारा दिये गए विचार विरोधों से परिपूर्ण हैं और अनेकता की व्याख्या करने में वह असफल हो जाता है।

यह कहा जा सकता है कि ब्रैडले ने प्रतिभासों का विचार देकर अनेकता की व्याख्या संतुष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रतिभासों को एक सीमा तक सत्य मानकर जगत् को सत्य प्रमाणित किया है, जो व्यक्ति में आशा का संचार करता है। इसलिए यह कहा जाता है और ठीक ही कहा जाता है कि शंकर का ब्रह्म विपन्न (poor) है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त वे किसी सत्ता को सत्य मानते ही नहीं हैं। किन्तु ब्रैडले का परम सत्य सम्पन्न है, क्योंकि प्रतिभासों को अपने आप में समन्वित करता है। प्रतिभासों में मात्रा का अंतर मानकर वह उसे नकारता नहीं है, बल्कि उसे समन्वित करता है।

शोधप्रज्ञ, दर्शन विभाग
पटना-विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ-सूची

1. *F.H. Bradley, AppearanceAnd Reality, p-120*
2. *Ibid, p-120*
3. *Ibid, p-123; p-318*

विषयिता का आध्यात्मिक मनोविज्ञान

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

I

स्वनामधन्य श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने अपने ग्रंथ 'सब्जेक्ट एज फ्रीडम'[1] में विषयिता (Subjectivity) के स्तरों का प्रतिपादन किया है जिनमें निहित चेतना के स्वरूप पर विमर्श प्रस्तुत करना इस शोध–पत्र का उद्देश्य है। विषयिता के इन स्तरों में प्रवेश के पूर्व श्री भट्टाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'दर्शन के सम्प्रत्यय' का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रासांगिक होगा। श्री भट्टाचार्य के अनुसार दर्शन अभिकथनीय (Speakable) विश्वासों (Beliefs) का प्रस्तुतीकरण है। यहां अभिकथनीय होने का तात्पर्य है–किसी विश्वास का निरूपण करना या जो कहा जा सकता है उसकी शब्दों में सरंचना करना। यह संरचना ही सैद्धांतिक चेतना का निर्माण करती है। यहां यह ध्यातव्य है कि सम्भवतः यह सैद्धांतिक चेतना प्रचलित विषयपरक अर्थों में भले ही ज्ञान न हो लेकिन इसमें किसी वस्तु की ज्ञेयता या सम्भावित ज्ञेयता के प्रति विश्वास निहित होता है। इस सैद्धान्तिक चेतना के चार स्तर हैं। जिनमें प्रथम आनुभविक विचार (Empirical Thought)[2] है। इस सैद्धांतिक चेतना की विषयवस्तु वह तथ्य होती है जो इन्द्रिय संवेदन पर आधृत होता है। यह यथातथ्य कथनीय होता है। इस स्तर पर अभिकथन केवल प्रस्तुत संवेद्य वस्तु का वर्णन करता है। इस ज्ञान की कसौटी विषयनिष्ठता होती है। इसमें सम्प्रेषणीयता एवं सर्वजनीयता के गुण होते हैं। सभी विज्ञानों का ज्ञान सैद्धान्तिक चेतना के इसी प्राथमिक स्तर पर प्रदपादनीय ज्ञान है। दर्शन का प्रारंभ सैद्धांतिक चेतना के द्वितीय स्तर विशुद्ध विषयनिष्ठ विचार (Pure Objective Thought)[3] से होता है। सैद्धांतिक चेतना के इस स्तर पर ज्ञान की अंतर्वस्तु स्वतःवर्ती (Self Subsistent) होती है। स्वतःवर्ती कहने का आशय है कि यह अंतर्वस्तु विषय से निर्देशित न होकर विषयी से निर्देशित होती है। ज्ञान के इस स्तर पर अभिकथन विषय का कोरा वर्णन मात्र नहीं होता है। भाषा स्वयं इस ज्ञान की संरचना में भाग लेती है। यह ज्ञान आभिप्रायिक (Meant) रूप में अभिव्यक्त होता है। सैद्धांतिक चेतना के इस स्तर पर प्रतिपादनीय विषय गणित, तर्कशास्त्र एवं तत्त्वमीमांसा हैं। सैद्धांतिक चेतना का तृतीय स्तर आध्यात्मिक विचार (Spiritual

Thought)[4] है। आध्यात्मिक विचार विशुद्ध विषयिनिष्ठता (Pure Subjectvity) का स्तर है। सैद्धांतिक चेतना के द्वितीय स्तर–विशुद्ध विषयनिष्ठ विचार (Pure objective Thought) में विषय यद्यपि विषयी द्वारा निर्देशित एवं नियमित होता है किन्तु यहां पर विषयपरकता बनी रहती है। आध्यात्मिक विचार में विषयता का कोई संदर्भ नहीं रह जाता है। इसीलिये इसे विशुद्ध विषयिनिष्ठता का स्तर कहा गया है। इसी आध्यत्मिक विचार के अंतर्गत ही विषयी या आत्मा का अध्ययन एवं प्रतिपादन किया जाता है। इस स्तर पर विषयी का ज्ञान शब्दशः (लिटरली) अभिकथनीय होता है। सैद्धांतिक चेतना के इसी स्तर पर भारतीय मनोविज्ञान, भारतीय धर्मदर्शन, एवं भारतीय नीतिशास्त्र आदि विषय प्रतिपादनीय हैं। परमसत्य का विचार सैद्धांतिक चेतना के चतुर्थ स्तर – अनुभवातीत विचार (Transcendental Thought)[5] के अंतर्गत किया जाता है। इस स्तर पर ज्ञान केवल प्रतीकात्मक रूप से कथनीय होता है।

II

विषयी (Subject) या आत्मा श्री भट्टाचार्य के लिये सैद्धान्तिक चेतना के तृतीय स्तर पर प्रतिपादनीय है। द्वितीय स्तर पर विशुद्ध विषय का ज्ञान प्रतिपादनीय है। सैद्धांतिक चेतना का प्रथम स्तर आनुभाविक विचार है। ज्ञान का यह स्तर दर्शन के क्षेत्र से बाहर का विचार है। अतः अब हमारा सरोकार यहां शेष सैद्धांतिक चेतना के स्तरों से है। श्री भट्टाचार्य के अनुसार विषय वह है जो अभिप्रेत (Meant) होता है। विषय का ज्ञान अर्थबोध से होता है एवं विषयी वह है जो विषय से भिन्न होता है। अतः इसका ज्ञान अभिप्रायमूलक कथन के माध्यम से नहीं हो सकता है। उदाहारण के लिये 'यह' पद का प्रयोग वक्ता एवं श्रोता समान अर्थ में कर सकते हैं। 'यह' पद एक अभिप्रेत (Meant) विषय है एवं अभिप्रेत विषय में संप्रेषणीयता, प्रामाणिकता एवं सार्वजनीयता इत्यादि विशेषतायें होती हैं। वहीं दूसरी ओर 'मैं' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार से नहीं किया जा सकता है क्योंकि 'मै' शब्द के अर्थ में वक्ता एवं श्रोता के संदर्भ बाह्य विषय न होकर आंतरिक विषयी होता है। यहाँ वक्ता एवं श्रोता दोनों के समक्ष 'यह' के समान कोई विषय विद्यमान नहीं है। विषय के ज्ञान के समान अर्थबोध (Meaning Consciousness) के द्वारा विषयी का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'मै' एक निरर्थक शब्द है। 'मैं' शब्द भी सार्थक रूप से (सिग्नीफिकेन्टली) अभिकथनीय है एवं वक्ता एवं श्रोता के बीच शब्दशः (लिटरली) संप्रेषणीय है। बल्कि एक अर्थ में आत्मा या विषयी का ज्ञान जितना निश्चित होता है उतना विषय का नहीं। विषय अपने प्रकाशन के लिये विषयी पर आश्रित होता है लेकिन विषयी अपना ज्ञान स्वयं भी कर सकता है। इस प्रकार आत्मबोध विषयबोध से व्यापक होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आत्मबोध विषयबोध से व्यापक होता है। यहां तक कि प्रत्येक विषयबोध में भी आत्मबोध निहित होता है । फिर भी विषयी का ज्ञान कैसे किया जाये? अनंत काल से मनुष्य यह प्रश्न पूछता चला आ रहा है। श्री ए.सी. मुखर्जी के अनुसार यह एक अहंमूलक विरोधाभास (Ego Centric Paradox) है।[7] श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के अनुसार विषयी की सत्ता के विषय में जितने भी तत्त्वमीमांसीय विवाद हैं उनका मूल है– विषयी का किसी न किसी अर्थ में विषय की भांति देखा जाना।[8] सुक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में भी विषयी को विषय के रूप में देखने का मतलब है उसे अर्थबोध के क्षेत्र में ज्ञात करने का प्रयास करना। श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के अनुसार विषयी की तत्त्वमीमांसा सम्भव नहीं है।[9] तत्त्वमीमांसा का क्षेत्र ही विषयी के प्रतिपादन का क्षेत्र नहीं है। यहां ध्यातव्य है कि काण्ट भी आत्मा की अवधारणा को तत्त्वमीमांसा के बाहर रखता है लेकिन दोनों की आत्मा की अवधारणा में मूलभूत अंतर है। काण्ट ज्ञान के व्यवस्थापन हेतु अहंप्रत्यय की अनुभवातीत एकता (Transcendental Unity of Apperception) के रूप में आत्मा को एक तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार तो करता है लेकिन यह उच्चस्तरीय आत्मा या विषयी काण्ट के लिये ज्ञेय नहीं है क्योंकि ज्ञान उसके लिए विषयात्मक और विषय संवेदमूलक है। काण्ट के लिए यह आत्मा केवल एक तार्किक पूर्वमान्यता है। लेकिन श्री भट्टाचार्य के अनुसार आत्मा या विषयी ज्ञेय है लेकिन इसकी ज्ञेयता विषय की ज्ञेयता से भिन्न कोटि की है।

श्री भट्टाचार्य मानते हैं कि तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और मनोविज्ञान भी आत्मा के अध्ययन की उपयुक्त भूमि नहीं हैं।[10] तत्त्वमीमांसा की प्रवृत्ति विज्ञान एवं मनोविज्ञान सहित विषयपरक ही है। यह आत्मा की सत्ता का ज्ञान विषयपरक ढंग से अर्थबोध के क्षेत्र में करने का प्रयास करते हैं। इस ज्ञान में हमेशा ज्ञाता एवं ज्ञेय के बीच अर्थबोध की दूरी बनी रहती है। जिस प्रकार प्रत्येक विषय अपने ज्ञान के लिये ज्ञाता की पूर्वापेक्षा रखता है, तो क्या उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान के लिये भी द्वितीय आत्मा की आवश्यकता होगी? इस प्रकार इस विधि से आत्मा का ज्ञान करने से अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसीलिये श्री भट्टाचार्य आत्मबोध के क्षेत्र को अर्थबोध (Meant Consciousness) के क्षेत्र से अलग कर देते हैं। उनके अनुसार आत्मबोध में कुछ होने के एक सकारात्मक विश्वास की अभिज्ञता निहित होती है जिसे शब्दशः (लिटरली) विषय के निषेध के रूप में कहा जा सकता है। यह आत्मबोध न ही रहस्यात्मक अंतर्बोध (Mystical Intuition) है और न ही यह एक अर्थबोध (Meant Consciousnss) है। यह बोध रहस्यात्मक अंतर्बोध एवं अर्थबोध के बीच का ज्ञान है।[11] अतः विषयी के अध्ययन का उपयुक्त क्षेत्र तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा नहीं है। विषयी या आत्मा के इस नवीन अध्ययन क्षेत्र को अनुभवतीत या आध्यात्मिक मनोविज्ञान कहा जा सकता है।[10]

III

वास्तव में विषयी की कोई सम्यक् तत्त्वमीमांसा नहीं हो सकती है इसलिये तत्त्वमीमांसा में विषयी के अस्तित्व एवं विषय के साथ इसके संबध के बारे में जो समस्यायें प्रकटतः दिखाई देती हैं वह अवैध हैं। तत्त्वमीमांसा स्वरूपतः विषय से सम्बन्धित है, यद्यपि इसमें विषय विषयी के द्वारा निर्देशित होता है। इसीलिये इसे विशुद्धविषय का क्षेत्र कहा जाता है। लेकिन इसमें चूंकि विषय का संदर्भ बना रहता है इसलिये अर्थबोध (Meaning Consciences) भी बना रहता है। विषयी (Subject) का बोध अर्थबोध से बाहर होता है। विषयी 'मैं' की सत्ता अपरोक्ष रूप से ज्ञेय है जोकि न तो अर्थबोध (Understanding of meaning) है और न ही अकथनीय अंतर्वस्तु का रहस्यात्मक अंतर्ज्ञान। यदि विषयी विषयपरक ढंग से अर्थबोध की भांति विषय को प्रकाशित न करे तो विषयी एवं विषय के बीच कोई संबंध ही नहीं होगा। जिस प्रकार विषयी विषय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह स्वयं को भी प्रकाशित कर सकता है। विद्यारण्य ने अपने एक प्रसिद्ध उदाहरण में इसी बात को रखंने का प्रयास किया है। साक्षी की अवधारणा को समझाने के लिए दीपक का उदाहरण देकर वह कहते हैं कि नाट्यशाला का दीपक विभिन्न विषयों को प्रकाशित करता है लेकिन जब नाट्यशाला में एकांत हो जाता है तो यही दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता हैं। वास्तव में तो विषयी का ज्ञान प्रत्येक विषयज्ञान में निहित होता है लेकिन यह ज्ञान विषय की छाया से आच्छादित होने के कारण स्पष्ट नहीं होता है। उदाहरण के लिये 'मैं' पुस्तक को जानता हूँ। इस विषयज्ञान के उदाहरण में यह भी निहित है कि 'मैं जानता हूँ कि मैं पुस्तक को जानता हूँ' (सर्वे प्रत्ययाः विषयाभवन्ति अस्य स आत्मा, सर्वबोधान् प्रतिबोध्यते)। लेकिन विषयज्ञान के प्रतिबोध के रूप में विद्यमान विषयी के बोध में विषयी की स्वतंत्र सत्ता स्थापित नहीं होती है। इससे मात्र ज्ञान में विषयी की विषय से प्राथमिकता एवं व्यापकता की अभिव्यक्ति होती है।

ऐसा कोई सैद्धान्तिक पथ नहीं है जहां विषयपरक ढंग से या अर्थबोध के रूप में 'मैं' या विषयी का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। तत्त्वमीमांसा अर्थ के क्षेत्र का त्याग नहीं कर सकती है। ज्ञानमीमांसा वास्तव में अर्थबोध के परे विषयी के प्रकार्य को प्रतिपादित करती है। किन्तु यह इस प्रकार्य (Function) को एक तथ्य के रूप में स्थापित करने का दावा नहीं करती है। यह केवल इस प्रकार्य को विषय 'की' ज्ञातृता (Knowing of Object) के रूप में ग्रहण करती है एवं केवल विषय ज्ञातृता (Knownness of the Object) के विभिन्न रूपों के संदर्भ में कारक (Preposition) 'की' (of) के अभिप्रायों का पदान्वयन (Paraphrases) करती है।[12] अतः ज्ञातृता–प्रकार्य एवं विषयी–प्रकार्य जोकि एक 'विश्वास' की अभिज्ञता है, न कि साधारण अर्थों में ज्ञान, को प्रतीक व्यवस्था में प्रतिपादित करने वाले दर्शन की इस नयी अध्ययन शाखा को अध्यात्मिक या अनुभवातीत मनोविज्ञान कहा गया है। मनोविज्ञान में

सामान्यतः विषयी–प्रकार्य का अध्ययन नहीं किया जाता है। इसके अनंतर इसमें इस प्रकार्य से अलग ज्ञान, इच्छा एवं भाव में प्राप्त विषयी का विषयपरक ढंग से अध्ययन किया जाता है। इसीलिये प्रचलित मनोविज्ञान से इसकी पृथकता दिखाने के लिये इसमें आध्यात्मिक या अनुभवातीत प्रत्यय जोड़ा गया है।

IV

इस प्रकार श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने आत्मा या विषयी के अध्ययन को एक नया आयाम प्रदान किया है। विषयी या विषयिनिष्ठता के अध्ययन की यह विधि वास्तव में अनुभवातीत निषेध की विधि है जो कि अद्वैत वेदांत में नेति–नेति के रूप में उपलब्ध तो है लेकिन कभी इतनी व्यापकता के साथ इसे कभी व्यावहारिक सत्ता पर उपलब्ध विषयी पर प्रयुक्त नहीं किया गया था। यह विषयी का वह अपरोक्ष बोध है जिसमें वास्तविक तथ्य के विश्वास के रूप में विषयी की सत्ता का ज्ञान होता है। चूंकि इस विषयी का संदर्भ जागतिक् या व्यावहारिक है अतः विषयी के इस साकारात्मक, सत्तात्मक अवबोध को विषय से पृथक़ता या असंगता (Dessociatin) के रूप में प्राप्त किया जाता है। विषयी से विषय की असंगता ही स्वातंत्र्य है। विषयिनिष्ठता के स्तर वास्तव में स्वतंत्रता के ही स्तर हैं। विषयिनिष्ठता का प्रथम स्तर दैहिक विषयिता (Bodily Subjectivity) है जो कि मानव–स्वातंत्र्य का प्रथम स्तर है। अपरोक्ष या आध्यात्मिक विषयिता (Non-Presentational or Spiritual Subjectivity) के स्तर पर विषयी निरपेक्ष स्वतंत्रता का उद्घाटन कर लेता है। परोक्ष मानसिक विषयिता (Presentational or Psychic Subjectivity) इन दोनों स्तरों के बीच की विषयिता है।

प्रोफेसर दयाकृष्ण[13] के अनुसार, शंकराचार्य अपनी विचार योजना में दो चरम अवस्थाओं की चर्चा करते हैं, वे हैं – पारमार्थिक एवं व्यावहारिक अवस्थायें। लेकिन उन्होनें कभी भी इन अवस्थाओं के संबंध को नहीं बताया है। इस प्रकार ज्ञाता आत्मा एवं विषय के बीच एक खाई रह जाती है। दूसरे शब्दों में शंकराचार्य ने आध्यासिक आत्म एवं पदार्थ के प्रतीत्य तादात्म्य के क्षेत्र को भलीभांति विश्लेषित नहीं किया है। इस प्रकार उन्होंने इस समस्या को बगैर हल किये ही छोड़ दिया है। श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने इन अवस्थाओं को जोड़ने का प्रयत्न किया है। वे इन दोनों आत्यंतिक अवस्थाओं के बीच कुछ मध्यस्थ स्तरों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार उन्होंने भारतीय दर्शन के आत्मान्वेषण और आत्मविस्तार की प्रक्रिया को एक नवीन दिशा प्रदान की है।

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया
आई.सी.पी.आर. जनरल फैलो
दर्शन विभाग, डॉ हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ एवं टिप्पणियां –

1. *Subject as Freedom, K.C. Bhattacharya, P.3-Studies in Philosophy, Ed. Gopinath Bhattacharya progressive Publishers 37, College Street Calcutta - 12.*
2. *K.C. Bhattacharya, Concept of Philosophy P. 95,102 & 107.*
3. *K.C. Bhattacharya, Concept of Philosphy, P. 95, 102, 110.*
4. *Ibid, P. 95 & 102.*
5. *Ibid P. 95.*
6. *K.C. Bhattacharya, Subject as Freedom, P. 19.*
7. *Self i.e consciousness is rooted in a paradox, the paradox, the paradox is that every object of knowledge presupposes a self that knows, it is almost a truism which is as clear as it is innocent. Yet this apparently innocent position has latent in its one of the most baffling paradoxes with which thought has ever been confronted. What is the self that is presupposed by every object ? K.C. Mukerji, Nature of Self, The Indian Press Ltd. Allahabad P.5.*
8. *K.C. Bhattacharya, Subject as Freedom, P. 24.*
9. *Ibid P. 27.*
10. *Ibid P. 25.*
11. *The understanding here is not a mystic intuition of a meaning that can be term of judgment, nor yet the thought of a meaning that is not known because not intuited or that is known without being intuited. It is somewhere midway between a mystic intuition and the consciousness of a meaning. K.C. Bhattacharya, Subject as Freedom, P. 24.*
12. *Ibid P. 28.*
13. *Prof. Daya Krishna, The Philosophy of K.C. Bhattacharya, Vishwabharti Quarterly.*

पुस्तक-समालोचना डॉ. मुकेश चन्द्र/डॉ. विभा मुकेश

धम्म आवर ओनली सेवियर

डी.डी. बंदिष्टे

बुद्धिस्ट वर्ल्ड प्रेस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

भारतवर्ष में बौद्ध–दर्शन का उदय वैचारिक जगत् के एक क्रान्तिकारी संक्रमण का फल है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थ संहितायें, उपनिषद् एवं तत्कालीन मत एवं उपमतों के सैद्धान्तिक आन्दोलन के फलस्वरूप बौद्ध–दर्शन के वैचारिक मत या सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक परम्परा के धरातल पर उदीयमान हुये। महात्मा बुद्ध के विचार तत्कालीन जनमानस के लिये बोधगम्य तथा सैद्धान्तिक दुरूहताओं से मुक्त थे। वर्तमान काल में भी बुद्ध के विचार व्यावहारिक धरातल पर खरे उतरते हैं। बुद्ध के विचार मानव–मात्र को प्रभावित करने वाले तथा ईश्वर, जगत्, आत्मा इत्यादि बुद्धि–विलास के विषयों से मुक्त हैं। बौद्ध–दर्शन का आधारस्तम्भ दुःख की अवश्यम्भाविता की अनुभूति के आधार पर दुःख का निरोध एवं निरोधगामिनी प्रतिपद की विवेचना है। बौद्ध–दर्शन में आध्यात्मिक उन्नति एवं निर्वाण की उपलब्धि में समाधि की उपादेयता एवं अद्वितीयता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चित्तवृत्तियों को यदि नियन्त्रित करना है तो समाधि के अभ्यास के द्वारा ही किया जा सकता है। समाधि के अभ्यासों में शील–विशुद्धि के पश्चात् चित्त–विशुद्धि को स्वीकार किया गया है।

बौद्धधर्म की लोकप्रियता एवं विस्तार का मूल कारण बुद्ध की व्यावहारिक देशनाओं को माना जाता है। उन्होंने समाज की परम्पराओं के विरोध में मध्यमाप्रतिपद के मार्ग को प्रस्तुत किया है। इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकलता है कि उन्होंने व्यावहारिक देशनाओं को उच्छृंखल बना दिया। बौद्धों ने धम्म में सर्वाधिक बल आचार–मीमांसा को दिया है। शील को प्रधान बना कर तथा अष्टांगिक मार्ग को प्रतिपादित करके बुद्ध ने मानव–जीवन में आचार–व्यवहार की सीमाओं को निर्धारित किया है। यह भी सत्य है कि बौद्ध दर्शन में धम्म सामाजिक पाखण्डवाद एवं गुरुओं के आडम्बर के सर्वथा विरुद्ध है। यज्ञ एवं ईश्वर को आधार बना कर समाज में विकसित समस्त पाखण्डों का बुद्ध ने खण्डन किया। यज्ञ एवं ईश्वर दोनों

को समाज के लिये अनुपयोगी सिद्ध करके बुद्ध ने कर्मफल की अवश्यम्भाविता को स्थापित किया। दुःखार्त प्राणी के जीवन में निहित दुःख से मुक्ति हेतु चार आर्यसत्यों की स्थापना बुद्ध के विचारों को समकालीन परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महनीय बना देती है।

प्रस्तुत पुस्तक दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय 'महात्मा बुद्धः व्यक्ति एवं उसका ध्येय (नियोग)' में डॉ. बंदिष्टे ने सर्वप्रथम बुद्ध के जीवन का सामान्य परिचय दिया है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय ने सर्वप्रथम मानवीय जीवन में दुःखों से कैसे छुटकारा मिले, इसका व्यावहारिक हल ढूंढने का प्रयास किया है। इसलिये बुद्ध के जीवन का उद्देश्य केवल दुःखों से मुक्ति कैसे हो, कोई नवीन उद्देश्य नहीं था। कहने का तात्पर्य है कि तत्कालीन समाज वैदिक परम्पराओं की दुरूहताओं से ग्रसित था। इसलिये बुद्ध द्वारा सामान्य भाषा में प्रतिपादित शिक्षायें जनमानस को सहज एवं सुलभ लगीं तथा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित विचारों ने एक संगठित सम्प्रदाय का रूप ले लिया। इस अध्याय में तत्कालीन समय में वेदों के अनुसार चलने वाले एवं वेद–प्रतिकूल चलने वाले समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों में धर्म, ईश्वर, कर्म, आत्मा, वर्ण, आश्रम इत्यादि के सम्बन्ध में सामान्य परिचय दिया गया है। साथ ही मानवतावाद एवं बुद्धिवाद को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि ये दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, लेकिन पृथक्–पृथक् सिद्धान्तों के रूप में इन्हें अध्ययन का विषय अवश्य बनाया जा सकता है।

प्रो. बंदिष्टे के विचार में आधुनिक पाश्चात्य जगत् में ज्ञान के स्रोतों के माध्यम बुद्धिवाद का सिद्धान्त वर्तमान काल में प्रचलित बुद्धिवाद से भिन्न है। वर्तमान काल में बुद्धिवाद अनुभववाद पर आधारित है। ज्ञान की प्राप्ति हमें *वैश्विक* तत्वों से होती है। ज्ञान के सन्दर्भ में इन्द्रियानुभव के महत्व को हम नकार नहीं सकते हैं। यह भी सत्य है कि कभी–कभी हमारा इन्द्रियज्ञान असत्य भी होता है। ऐसी स्थिति में अन्य व्यक्ति का ज्ञान हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान को सही कर सकता है, उसमें उपस्थित कमियों को दूर कर सकता है। यहां पर डॉ. बंदिष्टे के मौलिक विचारों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। एक बुद्धिवादी व्यक्ति कभी यह दावा नहीं करता है कि वह ही सही है, अन्य गलत हैं। इस प्रकार की सोच एक स्वस्थ वातावरण को प्रस्तुत करती है, जहां बौद्धिक वार्तालाप तनाव एवं मतभेदों को जन्म नहीं देते हैं। यहां पर हम प्रो. बंदिष्टे के विचारों में स्याद्वाद की स्पष्ट झलक को देख सकते हैं। हमें भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में ज्ञान से सम्बन्धित समस्त प्रकार की स्वतन्त्र विचारधारायें दिखायी देती हैं। स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों की विचारधारायें संकीर्णता की परिधि से परे हैं। प्रोफेसर

बंदिष्टे ने बुद्धिवाद के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा है कि बुद्धिवाद प्राथमिक रूप से हमारे जीवन के ज्ञान–मार्ग से सम्बन्धित है जिसमें तर्क के माध्यम से जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया जाता है। बुद्धिवाद यह कदापि नहीं कहता है कि प्रत्येक पर अविश्वास किया जाए और किसी भी परम्परा को परीक्षण के बिना अस्वीकार कर दिया जाए। बुद्धिवाद का उद्देश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति कार्य के औचित्य के सम्बन्ध में स्वयं को सन्तुष्ट करे, तब वह उस कार्य में प्रवृत्त हो। ज्ञान मूल्य–तटस्थ है अर्थात् स्वयं में ज्ञान न अच्छा है न बुरा। ज्ञान हमें यह नहीं कहता है कि आप इस कार्य को करो या न करो। लेकिन ज्ञान हमें प्रत्येक कार्य के लाभ एवं हानि के सम्बंध में बताता है कि हमें यह कार्य करना चाहिये और यह कार्य नहीं करना चाहिये। यहां पर यह स्पष्ट करना उचित होगा कि प्रो. बंदिष्टे ने ज्ञान के स्रोत एवं स्वरूप को पाश्चात्य जगत् में प्रचलित विचारधाराओं के अनुरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यदि ज्ञान के स्वरूप एवं स्रोत को भारतीय विचारधारा के अनुरूप ही विवेचित किया जाता तो अधिक उचित होता।

डॉ. बंदिष्टे ने मानववाद एवं मानवतावादी दृष्टिकोण में भी स्पष्ट अन्तर प्रस्तुत किया है। मानवतावादी दृष्टिकोण अर्थात् मानवजाति से प्रेम करने वाले लोग धार्मिक प्रवृति के होते हैं, आस्तिक होते हैं, जबकि मानववाद अर्थात् मानवजाति की सेवा करने वाले लोगों को मानने वाले मानव नास्तिक होते हैं। इनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। मानववाद केवल नैतिकता को स्वीकार करता है न कि किसी धर्म को। भारतीय सन्दर्भ में गांधी जी मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हैं जबकि नेहरू जी ने मानववाद का समर्थन किया। मानववाद किसी भी प्रकार के पराभौतिक तत्व के अस्तित्त्व को अस्वीकार करता है एवं उनके विचारों का केन्द्र–बिन्दु केवल मानव होता है, जिसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपरोक्त आधार पर प्रोफेसर बंदिष्टे ने बुद्ध को मानववाद का प्रतिपादक बताया और कहा है कि यदि बुद्ध के दर्शन को समझना है तो हमें बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्य, धम्म का अध्ययन तथा त्रिरत्न के प्रत्ययों के अन्तर्गत ही समझना होगा। इस प्रकार बौद्ध दर्शन–सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य मानव के ज्ञान को स्वप्रकाशित करना, अशुद्धता, अज्ञान, अविद्या, राग–द्वेष से मुक्त करना है।

'सत् का स्वरूप' नामक द्वितीय अध्याय में दो प्रकार से सत् के स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम हम किसी वस्तु का ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं तथा जिसे हम जानते हैं उस सत् का स्वरूप क्या है? सत् की वैधता के सम्बन्ध में भी हमें बौद्ध दर्शन में स्वतः–प्रामाण्यवाद एवं परतः–प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित जीवन–दर्शन का सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यावहारिकता के धरातल पर आधारित है। बुद्ध का स्पष्ट मत है कि हमें निरर्थक प्रश्नों के हल ढूंढने में अपने समय को व्यर्थ में नहीं गंवाना चाहिए, जैसे क्या यह संसार नित्य है? क्या शरीर आत्मा से भिन्न है? क्या बुद्ध मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेंगे? इत्यादि। बुद्ध ने स्वयं भी इन प्रश्नों के उत्तर देने की अपेक्षा मौन रहना अधिक उचित समझा। यह भी सत्य है कि बुद्ध एवं बुद्ध के अनुयायियों ने किसी भी ज्ञानात्मक स्थिति को पूर्णरूपेण अन्तिम नहीं माना है।

सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन का मानना है कि सत् अस्तित्व के समानान्तर है। सत् वह है जो अस्तित्ववान है। कोई भी वस्तु सत् स्वीकार की जा सकती है, यदि उस वस्तु में सत् को अभिव्यक्ति करने की क्षमता निहित है। यह सत् उपनिषदों के ब्रह्म के समान सत् नहीं होना चाहिए। क्या ब्रह्म में अपने समान वस्तु उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है? बुद्ध को भारतीय दार्शनिक जगत् को तथा मानवजगत् को क्या सत् है, क्या असत् है, इसके मध्य भेद का आधार तथा अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त को प्रदान करने का श्रेय जाता है। बुद्ध ने कहा है कि सत् अर्थात् विश्व एक तथ्य के रूप में अस्तित्ववान है। विश्व चार महाभूतों का संघटन मात्र है। सत् क्षणिक है। यह सत् अपरिवर्तनीय आत्मा के बिना विद्यमान है। सत् पारस्परिक रूप से एक विशेष समय से परस्पर सम्बन्धित है। सत् कार्यों को उत्पन्न करते हैं जो निरन्तर विद्यमान रहते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो नित्य है एवं पूर्णतया विनष्ट होने वाला नहीं है। बुद्ध की सत् के सम्बन्ध में धारणा इन दोनों तथ्यों के मध्य की धारणा है अर्थात् वह यह नहीं स्वीकार करते हैं कि कोई भी तत्व जो सत् है, नित्य है, न ही यह स्वीकार करते हैं कि सत् क्षणिक है।

ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुये बुद्ध ने कहा है कि यदि यह विश्व ईश्वर के द्वारा बनाया गया है तो इस संसार में कोई परिवर्तन या नष्टता नहीं होनी चाहिये। बंदिष्टे ने भी ईश्वर के अस्तित्व को बुद्धिवादी तर्कों के माध्यम से अस्वीकार कर दिया। बुद्ध के अनुसार ईश्वर की सत्ता नहीं है तथा मानव–मस्तिष्कों से समुचित रीति से इस धारणा को निकाल देना चाहिये। यह भी सत्य है कि बुद्ध ने कभी–कभी ब्रह्म, इन्द्र, देव, मार इत्यादि शब्दों का प्रयोग स्वयमेव किया है। परन्तु प्रो. बंदिष्टे के अनुसार बुद्ध ने स्वयं कभी भी इन दैवीय सत्ताओं पर विश्वास नहीं किया है। उन्होंने परा–शक्तियों को भी अस्वीकार किया है। यहां तक कि बुद्ध ने कभी भी स्वयं को भगवान् नहीं कहा है। उनके अनुसार अनेक बुद्ध उनके अस्तित्व से पहले आये और अनेक भविष्य में भी आयेंगे। बुद्ध ने प्रत्येक मानव को, चाहे वह स्त्री है या पुरुष, एक समान माना है, वेद इत्यादि प्रामाणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त जीवन में व्याप्त साधनों पर बल दिया है। जीवन विश्वास पर आधारित है और विश्वास तर्क पर।

तृतीय अध्याय में प्रो. बंदिष्टे ने यह विवेचित करने का प्रयास किया है कि बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व को क्यों एवं कैसे नकारा है। बुद्ध के अनुसार संसार में हमें लोकवैचित्र्य का प्रत्यक्ष होता है। लोकवैचित्र्य के लिये ईश्वर–प्रेरित धर्माधर्म को मानना उचित नहीं है, व्यर्थ है। बुद्ध ने कभी नहीं कहा कि ईश्वर को न मानने से या ईश्वर के प्रत्यक्ष के नष्ट होने से हमारी समस्त समस्यायें एवं समस्त दुःख समाप्त हो जायेंगे। संसार में व्याप्त समस्यायें एवं दुःख ईश्वर–निर्मित नहीं हैं अपितु सांसारिक कारणों से ही निर्मित हैं। संसार में समस्यायें तथा दुःख हमेशा रहेंगे। लेकिन इन समस्याओं से तथा दुःख से व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है, यदि हम दुःख तथा समस्याओं के स्वरूप को उचित रीति से समझें, उन कारणों को जाने जो समस्याओं की उत्पत्ति के लिये जिम्मेदार हैं। हम मानसिक समस्याओं, ईश्वर के भय, भक्ति में समय का दुरुपयोग, धार्मिक क्रियाकलाप एवं वाद–विवाद अन्धविश्वासों, ईश्वर एवं धर्म के नाम पर दी गयी बलि से मुक्त हो सकते हैं। डॉ. बंदिष्टे ने स्पष्ट शब्दों में उद्धृत किया है कि बुद्ध का यह कहना उचित है कि ईश्वर भी उस जीत को हार में नहीं बदल सकता है जिसे मानव ने स्वयं पर विजय प्राप्त करके हासिल की है। ईश्वर का प्रत्यय भी 2+2=5 नहीं बना सकता है। यह एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है कि दो और दो चार ही होते हैं पांच नहीं।

चतुर्थ अध्याय में प्रो. बंदिष्टे ने बुद्ध के अनुसार मानव–प्रत्यय की व्याख्या करते हुये कहा है कि मानव पंचस्कन्धों का संघातमात्र है। मानव अपनी विशिष्ट शारीरिक बनावट तथा क्रियाशीलता के कारण अन्य चेतन जीवों से भिन्न है तथा कोई अन्य चेतन जीव मानव से साम्यता नहीं रखता है। कोई भी विशिष्ट मानव तब तक अस्तित्ववान है जब तक कि पंच–स्कन्धों का संघात अस्तित्ववान है। जब पंच–स्कन्धों का आन्तरिक या बाह्य कारणों से संघात परस्पर वियोजित होने लगेगा और स्कन्ध चार महाभूतों में समाहित होने लगेंगे, तब मानव का अस्तित्व विलीन हो जाएगा और ये चार महाभूतों में समाहित स्कन्ध अन्य पदार्थों के रूप में सम्मुख उपस्थित होने लगेंगे। प्रत्येक जीव प्रत्येक क्षण में एक समान नहीं होता है अर्थात् प्रत्येक क्षण उसका अस्तित्व नये रूप को धारण करता है। बुद्ध ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह अनुभव किया कि समाज को सुधारने की आवश्यकता है अर्थात् मानव को जाग्रत करके समाज में व्याप्त आवश्यक बुराइयों को दूर किया जाए। मानव की दृष्टि को सम्यक् होना चाहिए। सांसारिक वस्तुओं का मानव को सम्यक् ज्ञान होना चाहिए।

आधुनिक समय में विज्ञान का भी यह दावा है कि प्रत्येक मानव समय के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है। मानव वंशानुगत गुणों तथा वातावरण की संघटक उत्पत्ति है। विज्ञान की भांति ही बुद्ध ने स्वीकार किया है कि स्वयं में कभी भी अपरिवर्तित आत्म–प्रत्यय की अनुभूति नहीं होती है। डॉ. अम्बेडकर का भी मत है

कि बुद्ध ने माना है कि मानव की स्वजीवन में जो भी स्थिति होती है या अपने जीवन–काल में वह जिस स्थान को प्राप्त करता है, उस स्थान की प्राप्ति में पैतृक गुणों की अपेक्षा वातावरण की महनीय भूमिका होती है, जिसमें वह रहता है। भाग्यवादिता, चाहे वह आशावादी या निराशावादी प्रकार की हो, मिथ्या है। आत्मविश्वास, यदि मानव अपने जीवन में कुछ बनाना चाहता है तो क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक विचारशीलता या साधन आवश्यक है। बुद्ध ने स्वयं उच्च स्थिति को प्राप्त करके तथा अपने वैचारिक निर्देशों के द्वारा इस तथ्य को स्थापित कर के भी सिद्ध कर दिया है।

पंचम अध्याय में मानव–सन्दर्भ में बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नियम ''जैसा कारण वैसा कार्य'' की तुलना ''जैसा बोओगे वैसा काटोगे'' से की गई है। बुद्ध ने समाज में प्रचलित कर्म से संबंधित समस्त अन्धविश्वासों को दूर करने एवं कर्म के सिद्धान्त को बौद्धिकता का स्वरूप देने का प्रयास किया। बुद्ध का मत है कि सम्पूर्ण विश्व कर्म के सिद्धान्त से परिचालित है। सम्पूर्ण विश्व कार्य–कारण की श्रृंखला से बद्ध है। मानव का एक व्यक्तित्व के अनुरूप पुनर्जन्म नहीं होता है। ये तो मानव की आवश्यकतायें है, जो पुनः जन्म लेती हैं। कारणता का सिद्धान्त मानव–अस्तित्व के प्रत्येक पहलू पर, यहां तक कि नैतिक पहलू पर भी, लागू होता है।

षष्ठ अध्याय में बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य–सत्यों के स्वरूप एवं मानव–जीवन में उनके महत्व को विवेचित किया गया है।

सप्तम अध्याय में डॉ. बंदिष्टे ने प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि धम्म से तात्पर्य धर्म से नहीं है। धम्म जीवन जीने की नैतिकता–पूर्ण पद्धति है। बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में किसी भी ईश्वर या धर्म को प्रस्थापित करने का प्रयास नहीं किया है। यद्यपि यह भी सत्य है कि कालान्तर में बुद्ध द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं ने धर्म का स्वरूप धारण कर लिया एवं बुद्ध स्वयं एक ईश्वर के रूप में प्रतिस्थापित हो गये। बौद्ध धर्म में भक्ति, प्रार्थना, धार्मिक क्रिया–कलाप इत्यादि स्वयमेव जुड़ते चले गये। बौद्ध धर्म का अपना एक विशिष्ट स्थान है तथा अन्य धर्मों से यह अनेक प्रकार से भिन्नता को सहेजे हुये है। अन्य धर्मों के धर्माचार्यों ने यह प्रतिपादित किया है कि जो वह कहते हैं, वही सत्य है। लेकिन बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा कि जो उन्होंने कहा है वह अन्तिम सत्य है। प्रत्येक धर्म के पास उपदेश हेतु महत्वपूर्ण बिन्दु होते हैं। लेकिन जब वे बिन्दु एक निश्चित आधार–स्थान से बोले जाते हैं तो वे एक निश्चित विभाग या समुदाय से संबंधित हो जाते हैं। लेखक का विचार है कि यदि जनसाधारण से नैतिक अपील की जाए तो वह सार्वभौमिक होनी चाहिए एवं समस्त धर्म एवं सम्प्रदाय से ऊपर होनी चाहिये। इसलिये धम्म को किसी धर्म की कोटि में रखना न्याय–संगत नहीं है। इसलिये लेखक ने धम्म को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुये कहा है कि

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धम्म को ज्ञान–प्राप्त व्युत्पन्न–नैतिकता के रूप में समझना चाहिये, न कि एक धर्म के रूप में।

अष्टम अध्याय में बौद्ध–दर्शन के त्रिरत्न– प्रज्ञा, शील, समाधि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

नवम अध्याय में डॉ. अम्बेडकर एवं बुद्ध के जीवन–चरित्र एवं कार्यों का तुलनात्मक विवेचन विषय के महत्व को महनीय बना देता है। यही अध्याय अपने सारगर्भित प्रारूप के कारण प्रोफेसर बंदिष्टे की लेखन–क्षमता को दर्शाता है। प्रो. बंदिष्टे अपने प्रयास में सफल भी हुये हैं। सम्पूर्ण अध्याय में यह विवेचित करने का प्रयास किया गया है कि भारत में अनेक धर्म होते हुये भी डॉ. अम्बेडकर ने बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धम्म को स्वीकार किया तथा अपना सम्पूर्ण जीवन धम्म को विश्व में प्रचलित करने में समर्पित कर दिया। बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करने का श्रेय यदि किसी को जाता है तो वह बाबा भीमराव अम्बेडकर को। धम्म बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक नैतिकता एक मानव के द्वारा मानव के लिये स्थापित की गयी है। जीसस तथा कृष्ण ने स्वयं को भगवान् या भगवान् के पुत्र के रूप में प्रतिपादित किया है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर नास्तिक होने के साथ–साथ बुद्धिवादी भी थे। उन्हें इनके ईश्वरत्व पर कभी आस्था नहीं रही। लेकिन बुद्ध का स्वयं को अन्य मानवों की भांति मानव मानना अम्बेडकर को उचित लगा क्योंकि बुद्ध के धम्म का केन्द्र–बिन्दु मानव है। प्रस्तुत अध्याय में बुद्ध के विचारों की तुलना गांधी तथा मार्क्स के विचारों से भी की गयी है, जिसमें अम्बेडकर के अनुसार केवल बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मानववाद श्रेष्ठ है। यदि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धम्म को उसके सहायक तत्वों, प्रज्ञा, शील एवं करुणा सहित आचरण में लाया जाए तो आने वाली प्रत्येक पीढ़ी, पिछली पीढ़ी से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होगी।

दशम अध्याय उपसंहार है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जीवन से संबंधित समस्याओं के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण बौद्धिक था। उनका कहना था कि जीवन के लिए मैं जिस प्रकार का भी दृष्टिकोण आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूं उसे उसी प्रकार से अपने जीवन में न उतारें। सर्वप्रथम उसको पूर्ण रूप से समझें। अगर आप मेरी विचारधारा से सहमत नहीं हैं अर्थात् तर्क की कसौटी पर मेरी विचारधारा खरी नहीं उतरती है तो आप मेरी विचारधारा को अपनाने के लिये बाध्य नहीं हैं। बुद्ध अपने उपदेशों की जीती–जागती तस्वीर थे। लेकिन बाद के विचारकों ने बुद्ध के इन बौद्धिक विचारों में अपने विचारों का मिश्रण कर दिया। इसका कारण उनके अनुयायी रहे जिन्होंने अपनी वैयक्तिकता के आधार पर बुद्ध के विचारों को रखा। लेखक का विचार है कि बुद्ध को अनुयायी के रूप में भिन्न–भिन्न स्थानों के स्थानीय लोगों को रखना चाहिये था जो बुद्ध की विचारधारा को तथ्यात्मक रूप से प्रस्तुत करते ताकि बौद्ध

धर्म में भी बुद्ध के विचारों को यथावत् रखा जाता। फलतः आधुनिक काल के मानव–समाज के सम्मुख बुद्धिवादी बुद्ध के विचारों को रखा जाता कि बुद्ध वास्तव में क्या कहना चाहते थे। इस महत्वपूर्ण तथ्य को जनता के सम्मुख रखना ही लेखक का मुख्य लक्ष्य है। आधुनिक काल की मांग है कि बुद्ध के बुद्धिवादी विचारों को प्रस्तुत किया जाए, क्योंकि बुद्ध की विचारधारा से ही वर्तमान में संक्रमित आत्मघाती विचारधारा से विश्व को बचाया जा सकता है, जो विश्व का नेतृत्व कर रही है।

दूसरा उद्देश्य लेखक का यह है कि बुद्ध की शिक्षाओं की अनिर्णयात्मक व्याख्या, जो पूर्ववर्ती लेखकों ने की है, उसे सकारात्मक रूप में अर्थात् जिस रूप में बुद्ध ने की है, उसे जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत करना है।

धम्म बुद्ध की शिक्षाओं का सार है। लेखक ने बुद्ध को मूलतः बौद्धिक धरातल से विवेचित करने का प्रयास किया है जिस ओर अन्य लेखकों का ध्यान नहीं गया है। आज का युग वैज्ञानिक अनुसन्धानों का युग है। लेखक का यह प्रयास है कि बुद्ध के विचारों का किस प्रकार से वैज्ञानिक अनुसंधानों के साथ स्थापन किया जा सकता है। लेखक की यह पुस्तक वर्तमान काल के उन आधुनिक मानवों को समर्पित है जो बुद्ध को नहीं जानते हैं तथा जिनके पास बौद्धिक परामर्श एवं वाद–विवाद के लिये समय का अभाव है।

दर्शन विभाग,
हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर-गढ़वाल, उत्तराखण्ड

धर्म दर्शन सेवा संस्थान, उदयपुर से अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् को जून 2009 में प्राप्त पुस्तकों की सूची

क्र.	पुस्तक का नाम	पृष्ठ संख्या
1	अनेकान्त सिद्धान्त	194
2	अहिंसामृतम्	64
3	अतिमानवीय शक्ति	186
4	आयोध्या का पौराणिक–ऐतिहासिक एवं राजनीतिक विश्लेषण	112
5	अग्नि परीक्षा	49
6	अनेकान्त के प्रकाश में मोक्षमार्ग	121
7	अपुनरागमन पथः मोक्षमार्ग	38
8	अनुभव चिन्तामणि	39
9	अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा	547
10	अमृतत्व की उपलब्धि हेतु समाधिमरण	112
11	अनन्त परम सत्य का उल्लेख तथा उपलब्धि सम्भव नहीं है, धार्मिक ग्रन्थ तथा विज्ञान से भी?	152
12	आत्मोत्थानोपाय : तप	46
13	आचार्य कनकनन्दी जी की दृष्टि में शिक्षा	114
14	आदर्श विचार–विहार–आहार	304
15	आदर्श जीवन की प्रायोगिक क्रियाएं	44
16	आनन्द की खोज (सुषमा जैन)	60
17	(आध्यात्मिक मनोविज्ञान) इष्टोपदेश	231
18	उपवास का धार्मिक–वैज्ञानिक विश्लेषण	110
19	उठो! जागो! प्राप्त करो! (कन्नड़)	101
20	ऋषभ पुत्र भरत से भारत	116
21	क्रान्ति के अग्रदूत	127
22	कथा सौरभ	147

PAPERS OF J.I.C.P.R.
Volume- XXIV (1&2)

Editor

Prof. Godabarisha Mishra

Member Secretary,

Indian Council of Philosophical Research

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

दार्शनिक-त्रैमासिक के आलेखों की सूची–II

क्र.	नाम	लेख का शीर्षक	वर्ष	अंक	पृ.सं.
1.	श्री यशदेव शल्य	सम्पादकीय	1954	1	100
2.	डॉ. संगमलाल पाण्डेय	प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप	1954	1	8
3.	डॉ. पी.टी. राजू	भौतिक सत्ता के प्रति वेदान्तिक दृष्टिकोण	1954	1	12
4.	श्री प्रभाकर माचवे	नकार की समस्या	1954	1	26
5.	श्री यशदेव शल्य	कारणवाद और स्वतंत्रेच्छा का प्रश्न	1954	1	31
6.	डॉ. आर.एन. कौल	फ्रायड – अचेतन मन का प्रत्यय	1954	1	52
7.	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद	वर्तमान संकट और दर्शन	1954	1	56
8.	श्री संगमलाल पाण्डेय	सम्पादकीय–दर्शन की सर्वमान्यता	1955	1	1
9.	डॉ. पी.एस शास्त्री	वाक्य–स्वरूप	1955	1	8
10.	श्री यशदेव शल्य	कारणवाद और स्वतन्त्रेच्छा का प्रश्न	1955	1	12
11.	डॉ. न.व. जोशी	परम–तत्त्व ईश्वर और सुन्दर से उसका सम्बन्ध	1955	1	23
12.	श्री श्रीराम चिंगले	दर्शन या जीवन–दर्शन	1955	1	29
13.	श्री नी.र. बरहाड़ पांडे	सुख–दुःख विवेक अर्थात् सुख–दुःख का मनोविज्ञान	1955	1	40
14.	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	भारतीय दर्शन में प्रयोग की महत्ता	1955	1	56
15.	श्री संगमलाल पांडे	सन्त रविदास की षड्धा सत्ता	1955	1	65
16.	डॉ. पी.एस. शास्त्री	अद्वैत तर्कशास्त्र में व्याघात का सिद्धान्त तथा बाध से उसका सम्बन्ध	1955	2	1
17.	श्री श्रीराममाधव चिंगले	ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य	1955	2	15
18.	श्री यशदेव शल्य	शरीर और मन	1955	2	33
19.	श्री नी.र. बर्हाड़ पाण्डे	सुख–दुख–विवेक	1955	2	52
20.	डॉ. ना.वि. जोशी	परमतत्त्व	1955	2	66
21.	श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे	रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना सिंहावलोकन तथा नव सृजन	1955	3	1

22.	श्री संगमलाल पाण्डेय	अद्वैत दर्शन की प्रणाली	1955	3	9
23.	श्री नी.र. वर्‌हाड पाण्डे	अद्वैत वेदान्त	1955	3	29
24.	प्रो. पी.टी. राजू	भारत का कर्मवादी दर्शन	1955	3	49
25.	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	मोक्ष दर्शन	1955	3	61
26.	डॉ. ना.वि. जोशी	परमतत्व–ईश्वर तथा सुन्दर से उसका सम्बन्ध (गतांक से आगे)	1955	3	69
27.	श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे	रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना	1955	4	1
28.	प्रो. वी.वी. नार्लिकर	आईंस्टीन और सापेक्षतावादी दर्शन	1955	4	7
29.	श्री श्रीराम माधव चिंगले	तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादका अध्यात्म –शास्त्र के प्रति विद्रोह	1955	4	15
30.	श्री नी.र. वर्‌हाड पांडे	सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त	1955	4	37
31.	डॉ. पी.एस. शास्त्री	अनिर्वचनीय सत्य	1955	4	47
32.	श्री राम शंकर भट्टाचार्य	पंचभूतः स्वरूप उपपत्ति तथा साक्षात्कार	1955	4	53
33.	डॉ. सतीशचन्द्र चटर्जी	विषय की समरूपता	1956	1	1
34.	श्री राममाधव चिंगले	तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद का अध्यात्मशास्त्र के प्रति विद्रोह	1956	1	8
35.	प्रो. पी.टी. राजू	बौद्ध विज्ञानवाद	1956	1	33
36.	श्री दामोदर मिश्र	मनोविज्ञान में सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा	1956	1	51
37.	प्रो. अनुकूलचन्द्र मुकर्जी	समकालीन भारतीय दर्शन	1956	2	1
38.	श्री यशदेव शल्य	पदार्थ का स्वरूप	1956	2	11
39.	डॉ. शिवनारायणलाल श्रीवास्तव	शांकर दर्शन में बाह्य जगत् की सत्ता	1956	2	19
40.	श्री नी.र. वन्हाड पाण्डे	चार्वाक दर्शन	1956	2	23
41.	प्रो. पी.टी. राजू	बौद्ध विज्ञानवाद	1956	2	29
42.	श्री संगमलाल पाण्डेय	कैसीररकृत कांट्स फर्स्टक्रिटीक	1956	2	43
43.	प्रो. हरिमोहन झा	हिन्दी में दर्शन साहित्य	1956	2	49
44.	डॉ. पी.एस. शास्त्री	स्फोटवाद	1956	3	1
45.	प्रो. श्री हरि मोहन झा	नव्यन्याय में अवच्छेदकता का व्यवहार	1956	3	13
46.	श्री उमेश्वर सिंह बिश्त	कान्ट के अनुसार कार्य–कारण सिद्धान्त	1956	3	23
47.	श्री संगमलाल पाण्डेय	नीट्शे के जीवन–दर्शन का नया मूल्यांकन	1956	3	36

48.	श्री राम माधव चिंगले	विश्व–धर्म	1956	3	50
49.	डॉ. भीखनलाल आत्रेय	दार्शनिक विचार	1956	4	1
50.	प्रो. रामनाथ कौल	हेगल द्वारा तर्कशास्त्र का प्रत्ययन	1956	4	11
51.	डॉ. नन्दकिशोर देवराज	भारतीय दर्शन और विश्वदर्शन	1956	4	18
52.	डॉ. किशोरीशरण वर्मा	परिवार तथा शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि	1956	4	23
53.	डॉ. ब्रज गोपाल तिवारी	अनुमान में आगम की समस्या	1956	4	26
54.	डॉ. शिवनारायणलाल श्रीवास्तव	शांकर दर्शन और अर्वाचीन दार्शनिक विचार	1956	4	29
55.	श्री राजेन्द्रनाथ मुकर्जी	मायावाद और लीलावाद	1956	4	34
56.	श्री अयोध्या प्रसाद अचल	आदर्श सामाजिक व्यवस्था	1956	4	37
57.	श्री स्वामी भक्तिहृदय वन	स्वागत–भाषण	1956	4	45
58.	प्रो. रामनाथ कौल	विशुद्ध विचार	1957	1	1
59.	श्री संगमलाल पाण्डेय	समकालीन वेदान्त और उसकी खोज	1957	1	8
60.	श्री राजेन्द्र स्वरूप भटनागर	अस्तित्ववाद क्या है ?	1957	1	19
61.	श्री रामनाथ शर्मा	श्री अरविन्द के दर्शन की रूपरेखा	1957	1	23
62.	डॉ. पी.टी. राजू	बौद्ध विज्ञानवाद	1957	1	36
63.	डॉ. या. मसीह	फ्रायडवाद और आचार	1957	1	57
64.	श्री अयोध्या प्रसाद अचल	आयुर्वेद शास्त्रों में मन और उसका स्वरूप	1957	1	67
65.	डॉ. अवधबिहारी लाल कपूर	रहस्यवाद	1957	2	1
66.	श्री राम अवध द्विवेदी	निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेद	1957	2	18
67.	श्री नी.र. बन्हाड पाण्डे	न्यायदर्शन में प्रमाण और प्रमेय	1957	2	33
68.	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	दर्शनशास्त्र की उपमा और दृष्टान्तों का अपव्यवहार	1957	2	50
69.	श्री कृष्णकुमार दीक्षित	काण्ट, हेगेल और मार्क्स का तुलनात्मक अनुशीलन	1957	2	59
70.	डॉ. धीरेन्द्रमोहन दत्त	देहतत्त्व	1957	3–4	1
71.	श्री राममाधव चिंगले	मायावाद (विवर्तवाद) तथा लीलावाद	1957	3–4	15
72.	डॉ. पी.टी. राजू	बौद्ध विज्ञानवाद	1957	3–4	37
73.	प्रो. बृजगोपाल तिवारी	ज्ञानमीमांसा–तर्क–शास्त्र विभाग का अध्यक्षीय भाषण	1958	1	1
74.	प्रो. हरिमोहन झा	परमार्थ दर्शन का प्रयोजन	1958	1	7

75.	श्री जगदीशनारायण तिवारी	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	1958	1	11
76.	प्रो. पी.टी. राजू	बौद्ध विज्ञानवाद	1958	1	17
77.	श्री श्रीराम माधव चिंगले	गांधी का दर्शन : परिचय और समीक्षा	1958	1	31
78.	श्री यशदेव शल्य	संवेद और भौतिक विषय	1958	2	1
79.	श्री नी.र. वन्हाड पांडे	वैशेषिकों के सात पदार्थ	1958	2	14
80.	श्री हरि मोहन झा	रामावतार शर्मा का परमार्थ दर्शन	1958	2	23
81.	श्री कृष्ण कुमार दीक्षित	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	1958	2	26
82.	श्री राम जी सिंह	मानवीय क्रान्ति का तत्व ज्ञान	1958	2	35
83.	प्रो. अयोध्या प्रसाद अचल	आयुर्वेद शास्त्र में व्यक्तित्व का वर्गीकरण	1958	2	47
84.	श्री रोहिताश्व कार्तिकेय	आत्मा का स्वभाव	1958	2	53
85.	प्रो. याकूब मसीह	युंगीय अस्तित्त्ववाद	1958	3	1
86.	श्री रामजी सिंह	जैन दर्शन में अद्वैतवादी प्रवृत्तियां	1958	3	16
87.	श्री कृष्ण कुमार दीक्षित	स्पिनोजा का बुद्धिवाद	1958	3	24
88.	श्री कृपाशंकर व्यास	तत्त्व विवेक	1958	3	32
89.	डॉ. रामानन्द तिवारी	योग में ईश्वर	1958	3	49
90.	श्री राजाजी सारस्वत	आत्मा का स्वभाव	1958	3	54
91.	डॉ. शि.ना.ला. श्रीवास्तव	अलेक्ज़ेंडर की ज्ञान मीमांसा	1958	4	1
92.	श्री सुरेश चन्द्र	दार्शनिक संशयवाद	1958	4	11
93.	श्री कृष्ण कुमार दीक्षित	ज्ञानार्जन में विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र की परस्पर सापेक्ष भूमिकाएँ	1958	4	21
94.	श्री कृपा शंकर व्यास	अद्वैत वेदांत में प्रमाण	1958	4	30
95.	श्री नी.र. वन्हाड पांडे	योग की ज्ञान मीमांसा पर कुछ विचार	1958	4	40
96.	डॉ. अनन्त गणेश जावडेकर	स्वत् प्रामाण्यवाद की सीमाएँ तथा उपलक्षण	1958	4	48
97.	श्री प्रवास जीवन चौधरी	सत्य का अर्थ तथा प्रमाणीकरण	1958	4	53
98.	श्री सुरेश चन्द्र	आत्मा का स्वभाव	1958	4	59
99.	श्री धर्मराज काश्यप	गांधी का दर्शन	1958	4	67
100.	पद्मभूषण डॉ. पी.टी. राजू	भारतीय दार्शनिकों के लिये वर्तमान तथा भविष्य में कर्तव्य	1959	1	1
101.	डॉ. रामानन्द तिवारी	दर्शन और दर्शन का इतिहास	1959	1	18
102.	प्रो. हरि मोहन झा	नव्य न्याय में तार्किक विश्लेषण	1959	1	27

103.	डॉ. पद्मा अग्रवाल	मनोविश्लेषण तथा व्यक्तित्व विकास	1959	1	36
104.	प्रो. एस.पी. कनल	आधुनिक दर्शन की नई समस्याएं	1959	1	48
105.	श्री यशदेव शल्य	अर्थ और प्रमाणीकरण	1959	1	55
106.	श्री सुरेश चन्द्र	अर्थ और प्रमाणीकरण	1959	1	74
107.	डॉ. या. मसीह	अर्थ और प्रमाणीकरण	1959	1	101
108.	डॉ. अ.ग. जावडेकर	मूल्यों का संवादिता सिद्धान्त	1959	1	106
109.	श्री कमल चन्द्र सोगानी	जैन अध्यात्मवाद के आधार–भूत तीन स्तम्भ	1959	1	111
110.	श्री रामजी सिंह	उद्योगवाद और संस्कृति	1959	1	114
111.	श्री विद्याधर शास्त्री	धर्म स्वरूप विषयक भ्रांतियों के निराकरण की आवश्यकता	1959	1	138
112.	श्री पुखराज व्यास	दार्शनिक समस्याओं के प्रति समाजवैज्ञानिक दृष्टिकोण	1959	1	143
113.	श्री सुरेश चन्द्र	दार्शनिक संशयवाद	1959	2	1
114.	कुमारी दुर्गा पन्त	मनुष्य तथा मानवीय अस्तित्व पर ज्याँ पॉल सार्त्र	1959	2	8
115.	श्री राजवंश सहाय हीरा	पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्र	1959	2	18
116.	श्री हरिमोहन झा	परमार्थ दर्शन	1959	2	27
117.	डॉ. या. मसीह	अलैक्ज़ेण्डर की ज्ञान मीमांसा	1959	2	31
118.	श्री सुरेश चन्द्र	संवेद और भौतिक विषय	1959	2	36
119.	डॉ. या. मसीह	धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या	1959	3	1
120.	श्री सुरेश चन्द्र	दार्शनिक संशयवाद–3	1959	3	14
121.	श्री रामकृष्ण सराफ	"नैष्कर्म्यसिद्धि" में निरूपित आत्मा का स्वरूप	1959	3	21
122.	श्री सीताराम शर्मा	इतिहास–दर्शन की पृष्ठभूमि	1959	3	28
123.	श्री हरि मोहन झा	परमार्थ दर्शन	1959	3	38
124.	डॉ. शि.ना.ला. श्रीवास्तव	अलैक्ज़ेंडर की ज्ञान मीमांसा	1959	3	46
125.	श्री राम नाथ कौल	तार्किक प्रत्यक्षवाद की मूल अवधारणाओं की आलोचनात्मक समीक्षा	1959	4	1
126.	डॉ. देवराज	दर्शन की परिभाषा – कुछ टिप्पणियाँ	1959	4	7
127.	श्री हरि मोहन झा	परमार्थ दर्शन	1959	4	16
128.	श्री सुरेश चन्द्र	दार्शनिक संशयवाद–4	1959	4	24
129.	श्री श्री चन्द्र	जार्ज एडवर्ड मूर	1959	4	38

130.	श्री नी.र. वन्हाड पांडे	गति और क्षणभंगवाद	1959	4	49
131.	श्री रामशंकर भट्टाचार्य	प्रत्यक्षापलापकारी संप्रदाय का निर्देश	1959	4	57–61
132.	डॉ. इन्द्र सेन	दर्शन की यथार्थ भावना	1960	1	1
133.	प्रेमानन्द डॉ. इशरत हसन अनवर	भारतीय दर्शन में तार्किक विश्लेषण की पुट	1960	1	12
134.	डॉ. अनन्त गणेश जावदेकर	ज्ञान का नीति शास्त्र	1960	1	22
135.	श्री अर्जुन चौबे काश्यप	समाज मनोविज्ञान	1960	1	34
136.	प्रो. विद्याधर शास्त्री	धर्म और राजनीति	1960	1	42
137.	कु. सुनयना दिवेदिया	भाषा तथा तथ्य चित्रण–1	1960	1	51
138.	श्री दया कृष्ण	भाषा तथा तथ्य चित्रण–2	1960	1	57
139.	डॉ. जड़ाऊ लाल मेहता	भाषा तथा तथ्य चित्रण–3	1960	1	62
140.	पद्मभूषण डॉ. भीखन लाल आत्रेय	परामनोविद्या–1	1960	1	66
141.	प्रो. हरि मोहन झा	परामनोविद्या–2	1960	1	71
142.	डॉ. सुखदेव सिंह शर्मा	सर्वोदय–दर्शन–1	1960	1	77
143.	श्री रामजी सिंह	सर्वोदय–दर्शन–2	1960	1	84
144.	श्री सुरेश चन्द्र	दार्शनिक विश्लेषण तथा नीतिमीमांसा	1960	1	94
145.	डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव	विश्वधर्म–दर्शन	1960	1	103
146.	श्री राजवंश सहाय 'हीरा'	प्लेटो का सौंदर्य–दर्शन	1960	1	111
147.	डॉ. दुखन राम	उद्घाटन भाषण	1960	1	118
148.	डॉ. या. मसीह	धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या–2	1960	2	128
149.	प्रो. रामनाथ कौल	तार्किक प्रत्यक्षवाद की मान्यताओं की आलोचनात्मक समीक्षा–2	1960	2	140
150.	प्रो. हरि मोहन झा	परमार्थ दर्शन	1960	2	144
151.	श्री नी.र. वन्हाड् पाण्डे	सत्य और स्वतः प्रामाण्यवाद	1960	2	149
152.	श्री संगमलाल पाण्डेय	तार्किक भाववाद	1960	2	157
153.	श्री सुरेश चन्द्र	"दार्शनिक संशयवाद–2,4" से संबंधित कुछ स्पष्टीकरण	1960	2	161
154.	श्री कृपा शंकर व्यास	अश्वघोष रचित 'बुद्धचरित' के दार्शनिक तत्वों का विवेचन	1960	2	164
155.	डॉ. इन्द्र सेन	विश्व दार्शनिक श्री अरविन्द	1960	3	183
156.	प्रो. हरि मोहन झा	परमार्थ दर्शन	1960	3	195
157.	श्री अरविन्द	मनुष्य एक मध्यवर्ती सत्ता है	1960	3	200
158.	डॉ. या. मसीह	धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या–3	1960	3	206

159.	श्री राम कृष्ण सराफ	नैष्कर्म्यसिद्धि में महावाक्य–विषयक सिद्धान्त	1960	3	218
160.	श्री आर.एन. कौल	आधुनिक दर्शनः अस्तित्ववाद	1960	3	227
161.	श्री यशदेव शल्य	व्यक्तिगत भाषा	1960	3	230
162.	डॉ. श्री कृष्ण सक्सेना	हिन्दू दर्शन में चेतना का सत्तामीमांसात्मक स्वरूप	1960	4	235
163.	श्री यशदेव शल्य	विशिष्ट, सामान्य तथा अस्तित्व	1960	4	254
164.	डॉ. अ.ग. जावडेकर	मूल्यात्मक ज्ञान–मीमांसा	1960	4	273
165.	डॉ. सम्पूर्णानन्द	भारतीय दार्शनिकों के लिये कर्त्तव्य (अध्यक्षीय भाषण)	1961	1	1
166.	श्री संगमलाल पाण्डेय	बुद्धिवाद	1961	1	6
167.	डॉ. द.म. पटेल	नैतिक विचार और जीवन	1961	1	19
168.	श्री चैनसुख दास	धर्म तत्व	1961	1	26
169.	डॉ. शिवनारायण लाल श्रीवास्तव	व्यक्ति–स्वातन्त्र्य और सामाजिक आयोजन–1	1961	1	40
170.	डॉ. श्रीकृष्ण सक्सेना	व्यक्ति–स्वातन्त्र्य और सामाजिक आयोजन–2	1961	1	49
171.	डॉ. या. मसीह	धार्मिक भाषा का स्वरूप	1961	1	56
172.	श्री नारायण शास्त्री द्रविड़	मूलवाक्यः एक तार्किक आलोचना	1961	1	66
173.	श्री सुरेश चन्द्र	प्रकथनों की सत्यता का प्रश्न	1961	1	80
174.	श्री कमल चन्द्र सोगानी	आत्मा का क्रमिक विकास	1961	1	83
175.	डॉ. इशरत हसन अनवर	अलगिजाली	1961	1	91
176.	श्री रामजी सिंह	श्रम–दर्शन	1961	1	92
177.	श्री जनार्दन राय नागर	स्वागताध्यक्ष का भाषण	1961	1	103
178.	प्रो. जगदानन्द पाण्डेय	भारतीय मनोविज्ञान	1961	1	114
179.	डॉ. इन्द्रसेन	जीवन और दर्शन	1961	1	130
180.	श्री नारायण शास्त्री द्रविड़	सुख, सुखवाद और नीति	1961	2	151
181.	डॉ. रामचन्द्र पांडेय	भारतीय अर्थ विज्ञान की मूलभूत समस्याएं	1961	2	167
182.	श्री नी.र. वण्हाड पांडे	जैन दर्शन में स्याद्‌वाद	1961	2	176
183.	श्री अरविन्द	क्रम विकास	1961	2	184
184.	श्री. अ.गा. जावडेकर	सृजनशीलता	1961	2	190
185.	श्री नारायण शास्त्री द्राविड़	आत्मतत्वविवेक का बाह्यार्थ भंगवाद प्रकरण (अनुवाद)	1961	2	193
186.	प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़	मूर के नैतिक यथार्थवाद सम्बन्धी तर्क और उनका स्टिवेन्सन कृत प्रतिवाद	1961	3	199

187.	श्री सुरेश चन्द्र	क्या अन्यों के अनुभव ज्ञेय हैं?	1961	3	211
188.	डॉ. य. मसीह	तत्त्वमीमांसा का स्वरूप	1961	3	216
189.	श्री अरविन्द	सत्य के लिये स्वाभाविक चिरन्तन खोज	1961	3	228
190.	प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़	आत्मतत्वविवेक का बाह्यार्थ भंगवाद प्रकरण (अनुवाद)	1961	3	231
191.	डॉ. रामचन्द्र पांडेय	विशेषण और विशेष्य	1961	3	236
192.	डॉ. इन्द्र सेन	मनुष्य ही अपना सर्वोत्तम मित्र या निकृष्ट शत्रु है	1961	3	242
193.	प्रो. स.ल. भैरप्पा	श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर का कला–दर्शन	1961	4	247
194.	डॉ. वी.एस. नरवणे	रवीन्द्र नाथ ठाकुर की सौन्दर्य–मीमांसा	1961	4	253
195.	डॉ. सुरेश जोशी	निर्झर का स्वप्न–भंग	1961	4	261
196.	श्री बसन्त कुमार लाल	टैगोर और प्लेटो	1961	4	267
197.	श्री नलिनीकान्त गुप्त	रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अरविन्द	1961	4	275
198.	(स्व.) श्री अरविन्द	रवीन्द्र के सम्बन्ध में	1961	4	279
199.	प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़	मूर के नैतिक यथार्थवाद संबन्धी तर्क और उनका स्टिवेंसन कृत प्रतिवाद (2)	1961	4	285
200.	डॉ. या. मसीह	तत्वमीमांसा का स्वरूप–2	1961	4	293
201.	डॉ. सम्पूर्णानन्द	स्वागताध्यक्षीय भाषण	1962	1	1
202.	प्रो. नित्यानन्द मिश्र	चित्तवृत्ति, भाषा और दार्शनिक व्यवहारवाद	1962	1	5
203.	प्रो. राम मूर्ति लूम्बा	भारतीय मनोविज्ञान का भविष्य	1962	1	13
204.	यश देव शल्य	क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है?	1962	1	21
205.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	—"—	1962	1	35
206.	प्रो. ना.शा. द्राविड़	—"—	1962	1	41
207.	डॉ. या. मसीह	—"—	1962	1	51
208.	श्री यशदेव शल्य	—"—	1962	1	61
209.	डॉ. दि.मू. पटेल	भारतीय और पाश्चात्य जीवन दृष्टियां	1962	1	69
210.	डॉ. न.कि. देवराज	भारतीय और पाश्चात्य जीवन दृष्टियां	1962	1	77
211.	श्री न.व. गाडगिल	दर्शन का हेतु	1962	2	87
212.	डॉ. अ.ग. जावडेकर	सृजनशीलता और कार्य–कारणभाव	1962	2	92

213.	डॉ. भीखन लाल आत्रेय	भारत रत्न डॉ. भगवान दास के दार्शनिक सिद्धान्त	1962	2	97
214.	डॉ. रमा शंकर श्रीवास्तव	समकालीन भारतीय दर्शन की मुख्य धारायें	1962	2	102
215.	रामजी सिंह	समकालीन भारतीय दर्शन : एक मूल्यांकन	1962	2	107
216.	सुकुमार मुकर्जी	ईश्वर एवं ब्रह्म में संबंध	1962	2	119
217.	प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़	सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण	1962	2	124
218.	श्री अरविन्द	भौतिकवाद की समीक्षा	1962	2	136
219.	प्रो. नारायण शास्त्री द्रविड़	क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ? (वाद विवाद)	1962	2	145
220.	डॉ. मंगल देव शास्त्री	धर्म–दर्शन	1962	3	147
221.	डॉ. देवराज	भारतीय दार्शनिकों के नये दायित्व	1962	3	163
222.	प्रो. ना.शा. द्रविड़	सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण	1962	3	171
223.	डॉ. के.सच्चिदानन्द मूर्ति	मनुष्य और प्रकृति	1962	3	179
224.	डॉ. इन्द्र सेन	वैयक्तिक स्वतंत्रता और योग	1962	3	185
225.	श्री अरविन्द	संन्यासवाद की समीक्षा	1962	3	195
226.	प्रो. निकुंज बिहारी बैनर्जी	अध्यक्षीय भाषा	1962	4	207
227.	अनिरुद्ध झा	दार्शनिक ज्ञान	1962	4	223
228.	ए.एफ. मार्खम	मनुष्य का स्वरूप और भाग्य	1962	4	231
229.	जगत् प्रकाश आत्रेय	भारतीय मनोवैज्ञानिकों का आवश्यक कर्त्तव्य	1962	4	241
230.	श्री चन्द्र	तथ्यों का स्वरूप–1	1962	4	247
231.	एल.पी.एन. सिन्हा	तथ्यों का स्वरूप–2	1962	4	253
232.	नारायण शास्त्री द्राविड़	तथ्यों का स्वरूप–3	1962	4	257
233.	डॉ. एस.एस. शर्मा	नैतिक–मूल्यों का वैयक्तिक जीवन में चरितार्थन–1	1962	4	267
234.	वसन्त कुमार लाल	नैतिक–मूल्यों का वैयक्तिक जीवन में चरितार्थन–2	1962	4	275
235.	अर्जुन चौबे काश्यप	नैतिक–मूल्यों का वैयक्तिक जीवन में चरितार्थन–3	1962	4	283
236.	डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव	स्वामी विवेकानन्द–दर्शन की एक समीक्षा	1962	4	287
237.	डॉ. शिवमूर्ति तिवारी	स्वामी विवेकानन्द का प्रेरणात्मक जीवन तथा उनका व्यावहारिक दर्शन	1962	4	291

238.	यशदेव शल्य	मानसिक और भौतिक	1963	1	1
239.	कुमारी शुक्ला सरकार	दर्शन का स्वरूप	1963	1	11
240.	डॉ. ना.शा. द्राविड़	सांख्य दर्शन की कुछ गुत्थियां	1963	1	23
241.	(स्व.) श्री अरविन्द	व्यक्ति की चरम परिणति	1963	1	29
242.	डॉ. धर्मन्द्र गोयल	तार्किक मानववाद	1963	2	46
243.	डॉ. धीरेन्द्र	निषेधात्मक ज्ञान की समस्या और भारतीय दर्शन	1963	2	55
244.	यशदेव शल्य	ज्ञान का विश्लेषण	1963	2	61
245.	श्री अरविन्द	सर्वव्यापी आत्मा और उसकी प्राप्ति की विधि	1963	2	83
246.	प्रो. न.कि. देवराज	शांकर वेदान्तः एक विमर्श	1963	2	89
247.	ना.शा. द्राविड़	सत्य की समस्या	1963	3	1
248.	डॉ. इशरत हसन अनवर	उपनिषद् तथा कुरान	1963	3	13
249.	बसिष्ठ नारायण सिन्हा	उपनिषदों में पुरुषार्थों सम्बन्धी विमर्श	1963	3	17
250.	श्री अरविन्द	विश्व और मानव	1963	3	27
251.	ना.शा. द्राविड़	शांकर वेदान्तः एक विमर्श का परामर्श	1963	3	31
252.	देवराज	शांकर वेदान्तः एक प्रत्युत्तर	1963	3	39
253.	के. सच्चिदानन्द मूर्ति	गुह्य सत्तावाद : एक मनन	1963	4	159
254.	यामुनाचार्य	नीति एवं समाज दर्शन : विभागाध्यक्षीय भाषण	1963	4	183
255.	राजेन्द्र प्रसाद	दार्शनिक विश्लेषण के प्रकार	1963	4	191
256.	वि.वि. अकोल्कर	परामनोविज्ञान में भारत का दाय	1963	4	190
257.	रमाकान्त त्रिपाठी	ज्ञान की सीमाएं	1963	4	209
258.	धीरेन्द्र शर्मा	ज्ञान की सीमाएं	1963	4	223
259.	अजित सिन्हा	ज्ञान की सीमाएं	1963	4	229
260.	डॉ. धमेन्द्र गोयल	अस्तित्ववाद के अनुसार मानव का स्वरूप	1963	4	230
261.	फादर वर्क्रुसे	अस्तित्ववाद के अनुसार मानव का स्वरूप	1963	4	250
262.	कु. दुर्गा पन्त	—"—	1963	4	261
263.	बसन्त कुमार लाल	—"—	1963	4	269
264.	डॉ. अजित कु. सिन्हा	आधुनिक भौतिक विज्ञान में कार्य–कारण तथा अनिश्चितता के नियमों के दार्शनिक चिंतन	1964	1	1

265.	रामजी सिंह	क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ?	1964	1	7
266.	लक्ष्मीकान्त	एक दार्शनिक सन्देहवादी की युक्ति	1964	1	19
267.	नवजीवन रस्तोगी	बाह्य पदार्थों को अनुमेयता और अभिनवगुप्त	1964	1	27
268.	एल.पी.एन. सिन्हा	भारतीय दृष्टिभ्रम सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन	1964	1	39
269.	ना.शा. द्राविड़	प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा	1964	1	47
270.	कार्यानन्द शर्मा	भारतीय दर्शन में निराशावाद	1964	1	65
271.	मधुसूदन प्रसाद	धार्मिक जीवन और श्रद्धा	1964	1	69
272.	अ.ग. जावडेकर	दर्शन शास्त्र में मूल्योन्मुखता की आवश्यकता	1964	2	77
273.	नवजीवन रस्तोगी	काश्मीर–शैव दर्शन में पदार्थ का स्वरूप	1964	2	83
274.	एल.पी.एन. सिन्हा	भ्रम और मतिभ्रम	1964	2	98
275.	डॉ. इशरत हसन अनवर	कुरान में मायावाद	1964	2	102
276.	ना.शा. द्राविड़	आत्मतत्वविवेक का बाह्यार्थ भंगवाद प्रकरण	1964	2	106
277.	यशदेव शल्य	ज्ञान की सीमाएं	1964	2	111
278.	रमाकान्त त्रिपाठी	'ज्ञान की सीमाएं' नामक लेख की आलोचनाओं का उत्तर	1964	2	118
279.	यशदेव शल्य	प्रत्युत्तर	1964	2	119
280.	यशदेव शल्य	प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा	1964	2	121
281.	नारायण शा. द्राविड़	उत्तर	1964	2	126
282.	यशदेव शल्य	प्रत्युत्तर	1964	2	129
283.	बसन्त कुमार लाल	अस्तित्ववाद के विरुद्ध कुछ आपत्तियां और उनका उत्तर	1964	3	133
284.	श्रीनिवास शास्त्री	'भ्रान्ति' के विषय में भारतीय दर्शन की एक समस्या	1964	3	146
285.	रमाशंकर मिश्र	"मैं" और "अन्य"	1964	3	152
286.	ना.शा. द्राविड़	आत्मतत्वविवेक का बाह्यार्थ भंगवाद प्रकरण	1964	3	159
287.	देवराज	मोक्षवाद बनाम ऐतिहासिक निष्ठा (अध्यक्षीय भाषण)	1964	4	173

288.	ना.शा. द्राविड़	भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का सिंहावलोकन	1964	4	185
289.	अजित कुमार सिन्हा	सांस्कृतिक प्रगति के दार्शनिक आधार	1964	4	201
290.	सी.पी. ब्राह्मो	धर्म–दर्शन की आवश्यकता	1964	4	207
291.	हरिशंकर अस्थाना	आधुनिक मनोविज्ञान और योगमनोविज्ञान	1964	4	219
292.	श्री चन्द्र	(गोष्ठी) सामान्य और विशेष	1964	4	231
293.	नित्यानन्द मिश्र	——''——	1964	4	235
294.	रामचन्द्र पांडेय	——''——	1964	4	243
295.	भी.ला. आत्रेय	(गोष्ठी) भारतीय दर्शन किस ओर	1964	4	251
296.	ह. माहेश्वरी	——''——	1964	4	254
297.	राजेन्द्र प्रसाद	——''——	1964	4	264
298.	ह. माहेश्वरी	——''——	1964	4	281
299.	अ.ग. जावडेकर	(गोष्ठी) व्यक्तित्व और राज्य	1964	4	285
300.	बी.वी. कृष्ण	——''——	1964	4	291
301.	डॉ. मोहनसिंह मेहता	स्वागत भाषण	1964	4	295
302.	डॉ. सम्पूर्णानन्द	उद्घाटन भाषण	1964	4	299
303.	कैलाशचन्द्र	सर्वज्ञता के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण	1965	1	1
304.	दरबारीलाल जैन कोठिया	सर्वज्ञता के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण	1965	1	7
305.	रामजीसिंह	——''——	1965	1	17
306.	नवजीवन रस्तोगी	प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप	1965	1	35
307.	अनिरुद्ध झा	अवधारणा कोटि–भ्रम : एक विश्लेषण	1965	1	51
308.	बसन्तकुमार लाल	सार्त्र की नास्तिकता : एक मूल्यांकन	1965	1	59
309.	रमाशंकर मिश्र	नैतिक विश्लेषण के माडल	1965	1	67
310.	यशदेव शल्य	अवधारणात्मक सापेक्षता और वास्तव	1965	2	85
311.	हृदय नारायण मिश्र	जैन दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावनाएँ	1965	2	66
312.	एल.पी.एन. सिंहा	क्या बर्कले अभौतिकवादी नहीं है ?	1965	2	103
313.	अयोध्या प्रसाद अचल	आयुर्वेद में ज्ञानेन्द्रियों का स्वरूप	1965	2	107

314.	रघुनाथ गिरि	सामान्य और विशेष	1965	2	111
315.	संकठा प्रसाद सिंह	रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में व्यक्ति का स्थान	1965	2	128
316.	आर.सी. वड़बे	आधुनिक युग में गांधी के दर्शन का महत्व	1965	2	133
317.	ब्रजगोपाल तिवारी	वाद–विवाद : स्पष्टीकरण	1965	2	140
318.	विमलेन्दु ना. सिन्हा	मिश्र के ''नैतिक विश्लेषण में माडल''	1965	2	144
319.	दयाकृष्ण	भारतीय दर्शन के तीन संप्रत्यय	1965	3	147
320.	पी.एस.एस. रामाराव	भारतीय तर्क में निषेध–प्रत्यय	1965	3	161
321.	शुक्ला सरकार	मूल्य संप्रत्यय	1965	3	170
322.	राममूर्ति लूम्बा	दर्शन और मनोविज्ञान	1965	3	178
323.	गोविन्दचन्द्र पांडेय	सैक्यूलरिज्मः एक सांस्कृतिक विवेचन	1965	3	184
324.	यशदेव शल्य	प्रत्यक्ष	1965	4	191
325.	हर्षनारायण	आलोचनाः सत्य, सत्यापन और वास्तव	1965	4	202
326.	यशदेव शल्य	उत्तर	1965	4	208
327.	चांदमल	नैतिकीय औचित्य	1965	4	211
328.	कन्हैयालाल	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार आत्मत्व के तीन स्तर	1965	4	221
329.	गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र	कर्म का सिद्धान्त– एक विशदीकरण	1965	4	229
330.	ना.शा. द्राविड़	आलोचना– भारतीय दर्शन के तीन सम्प्रत्यय	1965	4	233
331.	गोविन्द चन्द्र पाण्डे	ज्ञान के तीन रूप	1966	1	1
332.	यशदेव शल्य	प्रदत्त	1966	1	5
333.	दिनेशचन्द्र माथुर	ऐतिहासिक घटनाओं की आकस्मिकता, अद्वितीयता तथा बोधगम्यता	1966	1	11
334.	चांदमल	विधि का स्वरूप	1966	1	19
335.	इन्द्रदेव	निरक्षरों का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर	1966	1	27
336.	ए.एम. घोष	दर्शन का अध्यापन : एक टिप्पणी	1966	1	33
337.	दिनेशचन्द्र माथुर	ज्ञान के तीन रूप	1966	1	39

338.	यशदेव शल्य	ज्ञान में तीन रूप	1966	1	41
339.	इन्द्रदेव	ऐतिहासिक घटनाओं की आकस्मिकता	1966	1	46
340.	गोविन्ददास पाण्डे	विधि का स्वरूप	1966	1	49
341.	चांदमल	प्रदत्त	1966	1	51
342.	ए.एम. घोष	निरक्षरों का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर	1966	1	56
343.	अ.ग. जावडेकर	ज्ञान–प्रामाण्य के सम्बन्ध में विभिन्न भूमिकाएं	1966	2	59
344.	रामचन्द्र पांडेय	प्रत्यक्ष का प्रामाण्य	1966	2	64
345.	प्रेमनाथ	अमरीकी मनोविज्ञान में अस्तित्वात्मक प्रवृत्तियां	1966	2	73
346.	रमाकान्त त्रिपाठी	ईश्वर का स्वरूप	1966	2	82
347.	रामनाथ शर्मा	समाजदर्शन : प्रत्यय और प्रणाली	1966	2	87
348.	धर्मेन्द्र गोयल	दार्शनिक पद्धति	1966	2	95
349.	चांदमल	—''—	1966	2	102
350.	यशदेव शल्य	—''—	1966	2	109
351.	सुनयना दिवेटिया	क्या नैतिक वाक्य प्रकथनात्मक हैं	1966	2	116
352.	चांदमल	—''—	1966	2	121
353.	हरिमोहन झा	नव्यन्याय में निषेध का विश्लेषण	1966	2	125
354.	केवलकृष्ण मित्तल	भाषा, अनुभव, विचार, अथवा..?	1966	2	127
355.	नित्यानन्द मिश्र	स्ट्रॉसन का व्यक्ति–सिद्धान्त	1966	2	133
356.	जी.एस. महाजनी	स्वागत भाषण	1966	2	141
357.	चांदमल	न्याय का स्वरूप	1966	3	146
358.	सुकुमार मुकर्जी	क्या व्यक्तित्वधारी ईश्वर असम्पूर्ण है ?	1966	3	156
359.	आद्यप्रसाद	गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित नाथ–योग में मनोविज्ञान	1966	3	160
360.	अध्योध्याप्रसाद अचल	मनोरोग–निदान में रज और तम का महत्व	1966	3	169
361.	हरसिद्ध म. जोशी	तत्वज्ञान का आदर्शवादी प्रत्यय	1966	3	169
362.	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	मानव पर्येषणा और दार्शनिक विमर्श	1966	4	195
363.	नारायण शास्त्री द्राविड़	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार दर्शन का स्वरूप	1966	4	204

364.	यशदेव शल्य	व्याख्या : दार्शनिक विवेचन	1966	4	216
365.	अरविन्द वसाबड़ा	भारतीय मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक दृष्टि : एक सुझाव	1966	4	228
366.	बसन्तकुमार लाल	धर्म और भाषा–दर्शन	1967	1	1
367.	यशदेव शल्य	विश्लेषणात्मक और आनुभविक	1967	1	13
368.	दयालशरण वर्मा	सामाजिक अस्तित्व, समाजविज्ञान एवं दर्शन	1967	1	21
369.	ना.शा. द्राविड़	प्रदत्त के सम्बन्ध में कुछ विचार	1967	1	33
370.	गोविन्दचन्द्र पांडे	अनिर्वचनीयता	1967	2	53
371.	दयाकृष्ण	आलोचना	1967	2	55
372.	यशदेव शल्य	वाच्य और अवाच्य	1967	2	57
373.	दिनेश चन्द्र माथुर	आलोचना	1967	2	63
374.	ए. पम्पापति राव	विट्गिंस्टाईन, रहस्यवाद और अवाच्य	1967	2	65
375.	यशदेव शल्य	आलोचना	1967	2	69
376.	अयोध्या प्रसाद अचल	आयुर्वेद में आत्मा का स्वरूप	1967	2	75
377.	चांदमल	नैसर्गिक न्याय	1967	2	81
378.	विमलेन्दु नारायण सिंह	धर्म और भाषा–दर्शन	1967	2	87
379.	गोविन्दचन्द्र पांडे	दर्शन और तथ्य	1967	3	97
380.	मुनि श्री महेन्द्र कुमार	आर्थर एडिंग्टन का विज्ञान –दर्शन और जैन दर्शन	1967	3	102
381.	राजेन्द्र स्वरूप भटनागर	सत् एवं मूल्य	1967	3	115
382.	ना.शा. द्राविड़	अनिर्वचनीयता, वाच्य और अवाच्य	1967	3	120
383.	गोविन्दचंद्र पांडे	दार्शनिक प्रगति का प्रश्न	1967	4	135
384.	चांदमल	पारम्परिक दर्शन की सामयिकता	1967	4	146
385.	अणिमा सेनगुप्त	भारतीय दृष्टि के अनुसार दर्शन, धर्म तथा मानव–जीवन	1967	4	156
386.	अरविन्द वसावड़ा	भारतीय मनोविज्ञान में पुरुष का स्वरूप	1967	4	164
387.	ना.शा. द्राविड़	अविद्या–सिद्धान्त	1967	4	178
388.	काशीनाथ उपाध्याय	अविद्या का स्वरूप	1967	4	188
389.	रामचन्द्र त्रिवेदी	अविद्या का स्वरूप	1967	4	204
390.	बसन्तकुमार लाल	सत्य एवं सौन्दर्य	1967	4	211
391.	हजारीलाल माहेश्वरी	—''—	1967	4	220
392.	एस.एल. भैरप्पा	—''—	1967	4	228
393.	केवल कृष्ण मित्तल	अस्तित्व की समस्या	1968	1	1
394.	गिरधारीलाल चतुर्वेदी	ज्ञान का स्व–प्रकाशत्व लक्षण	1968	1	9

395.	ला. पंचानन सिन्हा	बर्कले के आन्तरिक प्रत्यक्ष के समर्थन में	1968	1	13
396.	नन्दकिशोर शर्मा	नीतिमीमांसा में प्राकृतिकता–वादी दोष	1968	1	20
397.	रामजी सिंह	साध्य–साधन विवेक	1968	1	26
398.	धमेन्द्र गोयल	समाज–चिन्तन और क्रान्ति	1968	1	36
399	यशदेव शल्य	भाषा	1968	1	41
400.	गोपालबिहारी माथुर	इतिहास के अध्ययन में सिद्धांत का उपयोग	1968	1	53
401.	लक्ष्मीकांत अवस्थी	पर्स का चिह्न–सिद्धांत	1968	1	68
402.	अभेदानन्द	न्याय प्रमाण–मीमांसा	1968	2	75
403.	यशदेव शल्य	प्राकृतिक विज्ञान	1968	2	92
404.	कन्हैयालाल	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार विषय क स्वरूप	1968	2	104
405.	संकठाप्रसाद सिंह	वेदान्त और बौद्धमत	1968	2	112
406.	यशदेव शल्य	नैतिक मूल्य	1968	3	149
407.	दिनेशचन्द माथुर	सौन्दर्य–बोध और सत्य	1968	3	163
408.	दयालशरण वर्मा	आधुनिकता का समाज–दर्शन औंर नव–रचना के प्रश्न	1968	3	167
409.	हरीमोहन झा	अध्यक्षीय भाषण	1968	4	185
410.	ह. माहेश्वरी	गीता–धर्म	1968	4	193
411.	ल. पंचानन सिन्हा	चाक्षुष प्रत्यक्ष की उलझन और उसका समाधान	1968	4	203
412.	धर्मेन्द्र गोयल	सत्ता के औचित्य	1968	4	203
413.	शिवजीवन भट्टाचार्य	सम्बन्धों में अनवस्था–प्रसंग	1968	4	225
414.	रमाकान्त त्रिपाठी	दार्शनिक विधि	1968	4	235
415.	नंदकिशोर शर्मा	स्वतंत्रता का स्वरूप	1968	4	247
416.	यशदेव शल्य	––"––	1968	4	253
417.	अनंतगणेश जावेड़कर	––"––	1968	4	261
418.	हरसिद्ध म. जोशी	तथ्य और मूल्य	1968	4	267
419.	रमाशंकर मिश्र	––"––	1968	4	271
420	रघुनाथ गिरि	––"––	1968	4	281
421.	ना.शा. द्राविड़	न्याय लीलावती : समीक्षात्मक अनुवाद (क्रमशः)	1969	1	1
422.	राजेन्द्र प्रसाद	स्वतंत्रता का स्वरूप	1969	1	11
423.	उमा गुप्ता	भारतीय दर्शन में भौतिकवाद का स्थान	1969	1	23

424.	दयानन्द भार्गव	'धर्म' शब्द का अर्थ	1969	1	33
425.	मधुसूदन प्रसाद	मैकिन्टायर के धार्मिक–आस्था के विश्लेषण की परीक्षा	1969	1	39
426.	वेदप्रकाश शर्मा	बट्रैंड रसेल के नैतिक दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन	1969	2	53
427.	मधुसूदन प्रसाद	सांसकृतिक सापेक्षतावाद	1969	2	63
428.	कृष्णकांत शुक्ल	शंकर और अभिनव गुप्त के परमतत्व के प्रत्यय की तुलनात्मक मीमांसा	1969	2	71
429.	दिनेश कुमार	माया की अ–अद्वैतवादी व्याख्या श्री अरविन्द के अनुसार	1969	2	79
430.	गोपालविहारी माथुर	तथ्य और मानक– पापर के विवेचनात्मक द्वैतवाद की समीक्षा	1969	2	89
431.	(कु.) रूपरेखा वर्मा	आधुनिक युग में ईश्वर–आस्था	1969	2	103
432.	करुणा रमाशंकर मिश्र	क्वाइन का 'अनुभववाद के दो हठमत'	1969	2	109
433.	हजारी लाल माहेश्वरी	हिन्दू दर्शन की मूल प्रेरणा	1969	3–4	125
434.	कु. रूपरेखा वर्मा	विश्लेषणात्मक–तथ्यात्मक	1969	3–4	133
435.	लाला पंचानन सिंह	प्रत्यक्ष–सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन	1969	3–4	137
436.	रामचन्द्र त्रिवेदी	अद्वैत दर्शन में जगत् की व्याख्या	1969	3–4	143
437.	जयेन्द्र प्रसाद शुक्ल	नव्य न्याय में स्वरूप संबंध	1969	3–4	151
438.	दिवाकर पाठक	ह्यूम एवं एयर के नीति–संबंधी विचार	1969	3–4	159
439.	रेवती रमण पाण्डेय	रवीन्द्र का प्रकृति–दर्शन	1969	3–4	167
440.	रमेशदत्त मिश्र	तर्क व्याक्य की अपरिहार्यता	1969	3–4	173
441.	कु. छाया राय	अस्तित्ववाद : आक्षेप एवं समाधान	1969	3–4	179
442.	वेद प्रकाश वर्मा	स्टीवेन्सन के सम्वेगवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन	1969	3–4	189
443.	चन्द्रानन ठाकुर	नवीन वस्तुवाद : एक सर्वेक्षण (1)	1969	3–4	209
444.	देवेन्द्र कुमार सिंह	प्रकृतिवादी दोष	1969	3–4	229
445.	डॉ. श्री प्रकाश दुबे	रुडोल्फ ओटो की दृष्टि में भगवद्गीता	1969	3–4	237
446.	राघवेन्द्र देव दीक्षित	पी.एफ. स्ट्रॉसन का 'तार्किक सिद्धान्त की भूमिका'	1969	3–4	241

447.	प्रभुलाल भटनागर	उद्घाटन भाषण	1970	1–2	251
448.	अनन्तगणेश जावडेकर	ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विचार	1970	1–2	255
449.	अजित कुमार सिंह	तार्किक नियम एवं वैज्ञानिक विधि के आधार पर मानव सभ्यता का विकास	1970	1–2	269
450.	बसंतकुमार लाल	दार्शनिक की उलझन	1970	1–2	281
451.	संगमलाल पाण्डेय	राजनीतिक प्रतिबद्धता	1970	1–2	291
452.	मधुसूदन प्रसाद	सत् का स्वरूप	1970	1–2	301
453.	लाला पंचानन सिंह	बर्कले एवं भौतिक वस्तुएं	1970	1–2	305
454.	केवलकृष्ण मित्तल	भेद, अभेद, अथवा ....?	1970	1–2	311
455.	अजितशुकदेव शर्मा	जैन धर्म में तप का माहात्म्य एवं उसकी समीक्षा	1970	1–2	319
456.	रघुनाथ गिरि	सत्य क्या है ?	1970	1–2	325
457.	बनवारी लाल	लुविस के अनुसार ज्ञेय का स्वरूप	1970	1–2	333
458.	ना.शा. द्राविड़	व्यवहार या व्यावहारिक सत्य के सम्बन्ध में अद्वैत की भूमिका	1970	3–4	5
459.	रामजी सिंह	'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में सत् का 'अर्थ' और महत्व	1970	3–4	15
460.	जयेन्द्र प्रसाद शुक्ल	तत्वज्ञान का प्रमुख कर्त्तव्य	1970	3–4	25
461.	शिव नारायण जोशी	स्वसमय और परब्रह्म	1970	3–4	33
462.	चन्द्रानन ठाकुर	नवीन वस्तुवाद : एक सर्वेक्षण (2)	1970	3–4	39
463.	नन्दकिशोर शर्मा	अद्वैत वेदान्त में नैतिकता का स्थान	1970	3–4	57
464.	कु. रूप रेखा वर्मा	पी.एफ. स्ट्रॉसन : 'निर्देश पर'	1970	3–4	65
465.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	प्रकृतिवादी दोष के तार्किक महत्व की परीक्षा	1971	1	1-23
466.	रामचंद्र पाण्डेय	इतिहास और मानव–चेतना के कालिक आयाम	1972	1	1
467.	सिद्धेश्वर भट्ट	बहुकोटिक अनाकारिक तर्क का मॉडल	1972	1	11
468.	(कु.) रूपरेखा वर्मा	विश्लेषणात्मक समानार्थकता	1972	1	19
469.	ना.शा. द्राविड़	अद्वैत वेदान्त संबंधी कुछ मौलिक प्रश्न तथा उनका समाधान	1972	1	27
470.	(कु.) आभा चतुर्वेदी	कार्य का हेतु एवं इच्छाएं	1972	1	39

471.	जयेन्द्रप्रसाद शुक्ल	धार्मिक विश्वास का स्वरूप	1972	1	45
472.	राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय	व्याख्या का तार्किक–स्वरूप	1972	1	55
473.	रामदत्त भारद्वाज	सत् की परिभाषा	1972	2	75
474.	मगनबिहारीलाल दीक्षित	सत् की द्वैतवादी धारणा एक काश्मीर–शैव दृष्टिकोण	1972	2	83
475.	अभेदानन्द	सत्–चित्–आनन्द ब्रह्म	1972	2	99
476.	ना.शा. द्राविड़	बहुकोटिक तर्क–कुछ समस्याएं	1972	2	103
477.	रामजी सिंह	अवक्तव्य–विश्लेषण	1972	2	113
478.	बेंजामिन खान्	क्या मनुष्य को ईश्वर की आवश्यकता है?	1972	2	121
479.	भगवती	प्रत्यक् और पराक्	1972	2	131
480.	गोविन्दचन्द्र पांडे	मूल्यों का और उनकी मीमांसा का ऐतिहासिक विकास	1972	3	145
481.	दयाकृष्ण	ज्ञानमीमांसा	1972	3	169
482.	अभेदान्द	जगन्मिथ्यात्ववाद और बौद्धिक विज्ञानवाद	1972	3	179
483.	रामजी सिंह	"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र में "अथ" का अर्थ और महत्व	1972	3	197
484.	आभा चतुर्वेदी	हेअर : नैतिक युक्ति का स्वरूप	1972	3	207
485.	आभा चतुर्वेदी	श्लिक एक प्रकृतिवादी के रूप में	1972	3	213
486.	राजनारायण	सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पदस्थिति	1972	4	218
487.	रूपरेखा वर्मा	सत्य और विश्वास	1972	4	232
488.	दयाकृष्ण	ज्ञानमीमांसा–5	1972	4	238
489.	अभेदानन्द	जगन्मिथ्यात्ववाद और शून्यवाद	1972	4	251
490.	किरीट जोशी	श्री अरविन्द और नयी समाज–व्यवस्था	1972	4	258
491.	ह. माहेश्वरी	श्री अरविन्द–दर्शन में चैतन्य–मीमांसा	1972	4	274
492.	केशवदेव आचार्य	श्री अरविन्द–दर्शन में विश्व –सृष्टि का उद्देश्य	1972	4	284
493.	विश्वनाथ भट्टाचार्य	आवश्यकता है– नूतन दृष्टिकोण की	1973	1	1
494.	बसन्त कुमार लाल	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन और प्रत्यक्ष	1973	1	6
495.	गोपालबिहारी माथुर	इतिहास और इतिहास–दर्शन का संबंध	1973	1	13

496.	अभेदानन्द	अनेकान्त और स्याद्वाद	1973	1	27
497.	दयालशरण वर्मा	अस्तित्व और मूल्य	1973	1	33
498.	रामजी सिंह	प्रेय और श्रेय : एक विवेचन	1973	1	42
499.	डी.एन. द्विवेदी	कर्मवाद	1973	1	48
500.	अभेदानंद	जगन्मिथ्यात्ववाद और कांट	1973	2	63
501.	नन्दकिशोर शर्मा	भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप	1973	2	69
502.	भगवती	डेकार्टः दार्शनिक विवेचन	1973	2	87
503.	अनु. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	यूनानी प्रत्ययवाद तथा हेगल, ले. स्टेस	1973	2	107
504.	ना.शा. द्राविड़	भारतीय दर्शनिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन	1973	3	123
505.	सिद्धेश्वर भट्ट	निषेध का स्वरूप	1973	3	141
506.	गोपालबिहारी माथुर	अधिनैतिकी और नैतिक अनुभव	1973	3	147
507.	यशदेव शल्य	निर्विषय ज्ञान	1973	3	157
508.	नन्दकिशोर शर्मा	निर्विषय ज्ञान	1973	3	165
509.	विश्वेश्वर प्रसाद वर्मा	लोकतन्त्र एवं भावी समाज	1973	3	175
510.	अनन्तगणेश जावडेकर	परिसर–विज्ञान का तात्त्विक अध्ययन	1973	3	181
511.	संतोष कुमार	दर्शन का गवेष्य	1973	3	189
512.	हर्षनारायण	वेदांत–वाङ्मय : एक विवेचन	1973	3	197
513.	वेदप्रकाश वर्मा	समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन में परामर्शवाद	1973	4	211
514.	ब्रह्ममित्र अवस्थी	अलौकिक प्रत्यक्ष और उनके सन्निकर्ष	1973	4	223
515.	कृष्णकांत शुल्क	प्रत्यभिज्ञा–दर्शन में परमतत्व का स्वरूप	1973	4	231
516.	या. मसीह	प्रत्ययवादी तत्त्वमीमांसा का स्वरूप	1973	4	241
517.	केदारनाथ तिवारी	क्या अनीश्वरवाद धर्म नहीं है?	1973	4	246
518.	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	अनुभववाद के मताग्रहों की प्रतिरक्षा	1973	4	251
519.	वी.के. भारद्वाज एवं एस. भारद्वाज	आपादन और अनुबन्धन	1973	4	259
520.	यशदेव शल्य	मूल्य–मीमांसा	1974	1	1
521.	नन्दकिशोर शर्मा	भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप	1974	1	13

522.	मगनबिहारीलाल दीक्षित	भारतीय दर्शन में भेद का स्वरूप	1974	1	31
523.	वेदप्रकाश वर्मा	संकल्प–स्वातंत्र्य और नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या	1974	1	41
524.	राजेन्द्र स्वरूप भटनागर	स्टेट–कृत हेगल (अनुवाद)	1974	1	51
525.	राजाराम द्राविड़	प्रामाण्यवाद	1974	2	63
526.	वेदप्रकाश वर्मा	क्या धार्मिक वाक्य सार्थक हैं?	1974	2	77
527.	यशदेव शल्य	समकालीन दार्शनिक परिस्थिति	1974	2	93
528.	धीरेन्द्र शर्मा	भारतीय दार्शनिक का सामाजिक दायित्व	1974	2	101
529.	योगिनी निघोस्कर	व्यष्टि (टिप्पणी)	1974	2	105
530.	अनु. राजेन्द्रस्वरूप भटनाकर	स्टेस–कृत हेगेल	1974	2	109
531.	यशदेव शल्य	हमारा जातीय अनुभव	1974	3	121
532.	लक्ष्मीनिधि शर्मा	धार्मिक अनुभूति का स्वरूप	1974	3	134
533.	कमलचन्द सोगानी	निश्चय और व्यवहार (गोष्ठी)	1974	3	141
534.	सागरमल जैन	जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार	1974	3	147
535.	अनंत गणेश जावडेकर	मानव–समता (गोष्ठी)	1974	3	158
536.	रघुनाथ गिरि	भारतीय तर्क–शैली	1974	3	137
537.	सरल झिंगरन	अद्वैत में अध्यास की परिकल्पना	1974	3	173
538.	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	हम किसका प्रत्यक्ष करते हैं?	1974	3	180
539.	धर्मेन्द्र गोयल	ऐतिहासिक ज्ञान	1974	3	192
540.	ज.आ. याज्ञिक	सार्त्र के स्वातंत्र्य–सम्बन्धी विचारों की समीक्षा	1974	4	201
541.	धर्मेन्द्र कुमार	प्रकृति के नियम	1974	4	212
542.	जे. फाइस	दो वस्तुएंः इंद्रियों की और बुद्धि की	1974	4	218
543.	भगवती	सांख्य–विवेचन	1974	4	224
544.	वेदप्रकाश वर्मा	डेविड ह्यूम का नैतिक दर्शन	1974	4	237
545.	केदारनाथ तिवारी	धार्मिक कथनों की सार्थकता	1974	4	257
546.	छाया राय	क्या नैतिक नियम वस्तुतः निरपेक्ष आदेश हैं ?	1974	4	273
547.	भगवती	शांकर अद्वैतवाद : युष्मत् का संवरण	1975	1	1
548.	वेदप्रकाश वर्मा	डेविड ह्यूम का धर्म–दर्शन	1975	1	26
549.	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	प्रागनुभविक ज्ञान	1975	1	48
550.	सुरेन्द्र बारलिंगे	संज्ञान	1975	2	61
551.	भीखनलाल आत्रेय	भारतीय दर्शनिकों से	1975	2	74

552.	रमाशंकर मिश्र	सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक तर्क	1975	2	80
553.	अभेदानन्द	सामान्यवाद	1975	2	93
554.	नन्दकिशोर	धार्मिक अनुभव का स्वरूप तथा धर्म–विज्ञान की संभावना	1975	2	104
555.	रमाकांत त्रिपाठी	आत्मवाद एवं अनात्मवाद	1975	2	115
556.	रघुनाथ गिरि	आत्मन् और अनात्मन्	1975	2	123
557.	सरल झिंगरन	भारतीय दर्शन में आत्मन् और अनात्मन्	1975	2	132
558.	राजेन्द्र प्रसाद पांडेय	समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति	1975	2	138
559.	या. मसीह	—"—	1975	2	152
560.	गोविन्दचन्द्र पांडे	बौद्ध दृष्टि के आलोक में सौन्दर्यशास्त्र	1975	3	161
561.	सतिन्दर महाजन	समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति	1975	3	163
562.	संगमलाल पांडेय	स्याद्वाद के विरोधाभास	1975	3	171
563.	वेदप्रकाश वर्मा	क्या वर्तमान युग में मोक्ष की अवधारणा उपादेय है ?	1975	3	179
564.	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	प्ररूप–सिद्धान्त	1975	3	188
565.	भगवती	कांटः निर्बन्ध–आत्म का कल्पना–बन्श्धन	1975	3	193
566.	नलिनी शुक्ला	धर्म–दर्शन	1975	3	212
567.	राजेन्द्र पांडेय	दर्शन में 'अवक्तव्य' की अवधारणा	1975	4	219
568.	यशदेव शल्य	आत्म और अनात्म	1975	4	228
569.	संगमलाल पाण्डेय	मूल्यों की त्याग–रूपता का सिद्धान्त	1975	4	234
570.	ह. माहेश्वरी	श्री अरविन्द एवं भारतीय दर्शन का अभीप्सात्मक स्वरूप	1975	4	241
571.	बसन्तकुमार लाल	लोकतन्त्र : भारतीय सन्दर्भ में	1975	4	248
572.	सागरमल जैन	अद्वैतवाद और आचार–दर्शन की सम्भावना	1975	4	258
573.	केवलकृष्ण मित्तल	बौद्ध परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व की इदंता	1975	4	263
574.	वेदप्रकाश वर्मा	आधुनिक आंग्ल दर्शन में नैतिक अंतःप्रज्ञावाद	1975	4	268

575.	छाया राय	नीतिमत्ता की कसौटी : गीता की "बुद्धि" तथा कांट का "संकल्प"	1976	1	1
576.	कृष्णकांत शुक्ल	प्रत्यभिज्ञा दर्शन में माया	1976	1	9
577.	धर्मेन्द्र गोयल	भाषा–विश्लेषण और हिन्दी	1976	1	15
578.	जे.फाईस	एक निरर्थक प्रश्न ?	1976	1	21
579.	वेदप्रकाश वर्मा	तथ्यात्मक निर्णयों से नैतिक निर्णयों के निगमन की समस्या	1976	1	27
580.	सत्यपाल गौतम	क्रान्तिकारी कर्म का औचित्य	1976	1	45
581.	विद्यानिवास मिश्र	भारतीय कलादृष्टि	1976	2	55
582.	सागरमल जैन	नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष तत्त्व	1976	2	67
583.	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	रसेल के वर्णन–सिद्धान्त की की स्ट्रासन द्वारा आलोचना	1976	2	73
584.	जे. फाइस	अशुभ की समस्या पर दोतरफा दृष्टिकोण	1976	2	81
585.	रमाकान्त त्रिपाठी	अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद	1976	3	105
586.	सुरेशचन्द्र	तात्विक प्राथमिकता	1976	3	113
587.	विजयकुमार भारद्वाज	तर्क के वाक्यों का विश्लेषण	1976	3	123
588.	पवित्र कुमार राय	मानवीय कर्मों की युक्तियुक्तता के बारे में ह्यूम के विचार	1976	3	133
589.	रघुनाथ गिरि	धर्म की पुरुषार्थता	1976	3	143
590.	संगमलाल पांडेय	विधि और नैतिकता	1976	3	155
591.	ह. माहेश्वरी	रसानुभूति	1976	3	165
592.	रेखा झांझी	—"—	1976	3	177
593.	छोटेलाल त्रिपाठी	प्लॉटिनस और उपनिषद्	1976	3	181
594.	यशदेव शल्य	समकालीन भारतीय दर्शन	1976	3	191
595.	धर्मेन्द्र गोयल	—"—	1976	3	195
596.	सत्यपाल गौतम	—"—	1976	3	199
597.	हर्षनारायण	तत्त्वज्ञान में प्रमाण की अप्रवृत्ति (महायान के सन्दर्भ में)	1976	4	205
598.	कु. मीरा रस्तोगी	प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रकाश–विमर्श का स्वरूप	1976	4	217
599.	वेदप्रकाश वर्मा	ईसाई धर्म में आस्था और तर्क–बुद्धि का स्थान	1976	4	235

600.	यशदेव शल्य	इम्मेनुअल कांट : तत्त्वमीमांसा	1977	1	1
601.	वेदप्रकाश वर्मा	कांट का धर्मदर्शन	1977	1	39
602.	राजेन्द्र प्रसाद पांडेय	डॉ. पांडे का संस्कृति–दर्शन	1977	2	63
603.	हर्षनारायण	श्रामण्य और निर्वाण का लोकव्यवस्था से सम्बन्ध	1977	2	99
604.	छाया राय	सिक्ख धर्म में ईश्वर की एकता	1977	2	111
605.	रमाशंकर श्रीवास्तव	भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप	1977	3	123
606.	यशदेव शल्य	हमारी राजनैतिक परिस्थिति	1977	3	129
607.	उमाचरण झा	बुद्ध–दर्शन में दुःख एवं दुःख आर्य–सत्य की मीमांसा	1977	3	135
608.	बह्ममित्र अवस्थी	श्रद्धा का महत्व	1977	3	141
609.	सतिन्दर महाजन	समाज–दर्शनः कुछ प्रश्न	1977	3	151
610.	विमलेन्दुनारायण सिंह	आकारिक तर्कशास्त्र एवं दार्शनिक विवेचन	1977	3	159
611.	जगन्नाथ उपाध्याय	बौद्ध दृष्टि में अस्तित्व की अवधारणा और उसका सामाजिक सन्दर्भ	1977	3	163
612.	नित्यानन्द मिश्र	वैयक्तिक अनन्यता	1977	3	169
613.	देवकीनन्दन द्विवेदी	—"—	1977	3	177
614.	नं.कि. देवराज	पुरुषार्थ	1977	3	185
615.	ह. माहेश्वरी	गीतोक्त बुद्धि एवं बुद्धियोग	1977	4	189
616.	संगमलाल पांडेय	काश्मीर शैवमत की परीक्षा	1977	4	203
617.	सागरमल जैन	मूल्य–बोध की सापेक्षता	1977	4	221
618.	जे. फाइस	धर्म–ग्रंथों पर दार्शनिक चिन्तन	1977	4	227
619.	अंजनीकुमार सिंह	श्री अरविन्द–दर्शन में परात्पर तत्व	1977	4	237
620.	रामजी सिंह	सम्पूर्ण क्रांतिः एक अध्ययन	1977	4	243
621.	यशदेव शल्य	संपादक की अल्विदा	1977	4	251
622.	प्रो. शिवकुमार मिश्र	दर्शनः सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में	1978	1	9
623.	श्री संगमलाल पाण्डे	दर्शन और समाज	1978	1	17
624.	प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी	दर्शन और समाज	1978	1	28
625.	डॉ. सागरमल जैन	भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना	1978	1	32
626.	डॉ. ह्रदयनारायण मिश्र	समाज और दर्शन	1978	1	46
627.	डॉ. अशोक कुमार लाड़	समाज में दर्शन की भूमिका	1978	1	51

628.	डॉ. अर्जुन मिश्र	ज्ञान का स्वरूप	1978	1	55
629.	डॉ. सुरेन्द्र वर्मा	संस्कृति का अर्थ : भारतीय परम्परा	1978	2	68
630.	डॉ. सागरमल जैन	नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न	1978	2	74
631.	डॉ. लालन प्रसाद सिंह	विधि और नैतिकता	1978	2	85
632.	डॉ. रामानन्द मिश्र	जैन दर्शन का स्याद्वाद	1978	2	89
633.	डॉ. वेदप्रकाश वर्मा	धार्मिक अनुभव और ईश्वर का अस्तित्व	1978	2	94
634.	डॉ. के.एन. शर्मा	आर्थर सी. डाण्टी के 'मूलक्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण	1978	2	101
635.	डॉ. विनोद शंकर	बर्गसां के दर्शन में काल की अवधारणा	1978	2	109
636.	सुश्री विमलासिंह	रसेल के दर्शन में तार्किक अणु	1978	2	115
637.	कुलदीप कुमार 'निर्मोही'	भगवत् गीता में निष्काम कर्म योग	1978	2	119
638.	डॉ. सभाजीत मिश्र	सार्त्रः अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद तक	1978	3	125
639.	डॉ. हर्षनारायण	सामाजिक समता के सन्दर्भ में धर्म दर्शन	1978	3	134
640.	माधवराव यादव	संशय– स्वरूप एवं समस्या	1978	3	152
641.	गिरधारीलाल चतुर्वेदी	परामर्श– स्वरूप एवं महत्व	1978	3	161
642.	डॉ. छाया राय	फिनोमिनोलॉजिकल विधि– आक्षेप एवं समाधान	1978	3	165
643.	रेनू खन्ना	शुद्ध आकारवाद, संभावनायें व सीमा	1978	3	170
644.	शरद कुमार बघेल	बौद्ध चिन्तन धारा में सर्वास्तिवाद का स्थान	1978	3	175
645.	भगवती	वसुबन्धु का विज्ञानवाद	1978	3	182
646.	डॉ. सागरमल जैन	जैन दर्शन के 'तर्क प्रमाण' का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन	1978	4	189
647.	श्रीकृष्ण गोपाल शर्मा	ज्ञान की समस्या की समीक्षा (बट्रेण्ड रसल के लेख के संदर्भ में)	1978	4	210?
648.	पाण्डेय, आर.डी. 'गंभीर'	तर्कना एवं प्रतिभज्ञान (एक अस्तित्ववादी विवेचन)	1978	4	217

649.	डॉ. लक्ष्मण प्रसाद मिश्र	पुरुषार्थ एवं कृपा	1978	4	222
650.	डॉ. संगमलाल पाण्डे	नव्य दर्शन की ओर	1979	1–2	1
651.	स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती	योग दर्शन और विश्व शान्ति	1979	1–2	9
652.	डॉ. वेदप्रकाश वर्मा	धार्मिक कथनों का अर्थबोध और ईश्वर सम्बन्धी आस्था	1979	1–2	10(ब)
653.	डॉ. कृष्णमोहन झा	तर्क के आयाम	1979	1–2	16
654.	डॉ. सुश्री भुवन चन्देल	भारतीय सन्दर्भ में नीति और समाज दर्शन के कुछ मूल प्रश्न	1979	1–2	21
655.	डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी	अद्वैत वेदान्त में ईश्वर और भक्ति	1979	1–2	25
656.	डॉ. रामजी सिंह	सम्पूर्ण क्रान्ति की शव परीक्षा	1979	1–2	33
657.	डॉ. राननाथ शर्मा	भारतीय समाज दर्शन में परम्परा बनाम आधुनिकता	1979	1–2	40
658.	डॉ. राजेन्द्र कुमार गर्ग	नैतिकता और न्याय	1979	1–2	46
659.	डॉ. सागरमल जैन	प्रवर्त्तक एवं निवर्त्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रदेय	1979	1–2	49
660.	डॉ. अभेदानन्द	वृत्ति व्याप्ति एवं फल व्याप्ति	1979	1–2	54
661.	डॉ. सत्यपाल वर्मा	अद्वैत वेदान्त का नैतिकता सम्बन्धी अभेदवादी मानदण्ड	1979	1–2	57
662.	डॉ. जे. फाइस	ईसाई दर्शन की समस्या	1979	1–2	62
663.	रमाकान्त त्रिपाठी	कौटिल्य का समाज दर्शन	1979	1–2	66
664.	डॉ. कु. गिरिजा व्यास	शुद्धाद्वैत में अनुग्रह का सिद्धान्त	1979	1–2	72
665.	डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी	न्याय दर्शन और निःश्रेयस	1979	1–2	76
666.	श्री हरीसिंह	चार्वाक दर्शन के प्रकीर्ण सन्दर्भ	1979	1–2	82
667.	श्री सन्तोषकुमार, प्रदीप कुमार	गाँधी और दर्शन	1979	1–2	92
668.	डॉ. सुरेन्द्र वर्मा	भाषा की अर्थवत्ता का प्रश्न	1979	3	1
669.	डॉ. उमेशचन्द्र दुबे	श्री अरविन्द का समग्र अद्वैतवाद एवं अनन्त का तर्क : एक विवेचन	1979	3	6
670.	डॉ. लालन प्रसाद सिंह	शाक्त दर्शन	1979	3	21
671.	डॉ. चन्द्रकान्त शुक्ल	सोम–सिद्धान्त	1979	3	32
672.	श्री विनोद शंकर	सापेक्षवाद एवं न्यूटन	1979	3	41
673.	डॉ. डी.डी. बंदिष्टे	आधुनिक समाज में दर्शन की भूमिका	1979	4	1

674.	डॉ. छाया राय	सिक्ख धर्म में माया का स्वरूप	1979	4	7
675.	कु. मीरा रस्तोगी	स्वातन्त्र्य बनाम नियतिवाद : एक शिवाद्वयवादी दृष्टि	1979	4	14
676.	श्री रामकुमार, एम.ए.	भगवद्गीता में भोग का आध्यात्मिक आधार	1979	4	24
677.	श्री हरि सिंह	चार्वाककृत अनुमान–खण्डन	1979	4	30
678.	कु. माला भटनागर	रस–सिद्धान्त का दार्शनिक आधार	1979	4	36
679.	डॉ. रामजी सिंह	परिषद् के 25 वर्ष	1980	1–2	1
680.	डॉ. ति.रा.वे. मूर्ति	अध्यक्षीय भाषण – भारतीय दर्शन के विरुद्ध आक्षेप	1980	1–2	6
681.	डॉ. देवकीनंदन द्विवेदी	ज्ञान की संभावना	1980	1–2	13
682.	डॉ. सागरमल जैन	नैतिक प्रतिमान, एक या अनेक?	1980	1–2	21
683.	श्री केदारनाथ तिवारी	आकारपरक बनाम आकारनिरपेक्ष तर्कशास्त्र	1980	1–2	26
684.	डॉ. ह. माहेश्वरी	धर्म–दर्शन समुच्चय भगवद्गीता का संदर्भ	1980	1–2	35
685.	श्री यशदेव शल्य	तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा	1980	1–2	53
686.	डॉ. पी.बी. विद्यार्थी	भगवान् स्वामिनारायण का नव्यविशिष्टाद्वैत वेदांत	1980	1–2	68
687.	डॉ. न. कि. देवराज	स्वातन्त्र्योत्तर भारत दर्शन	1980	1–2	91
688.	डॉ. श्रीप्रकाश दुबे	भारतीय दर्शन के पच्चीस वर्ष पर संगोष्ठी	1980	1–2	97
689.	डॉ. नारायण भगत	भगवान स्वामिनारायण की दृष्टि में सांख्यदर्शन	1980	1–2	104
690.	साधु आत्मस्वरूपदासजी	स्वामिनारायणीय मुक्ति व्यवस्था	1980	1–2	111
691.	प्रा. रमेश म. दवे	स्वामिनारायणीय अक्षरब्रह्म मीमांसा	1980	1–2	116
692.	प्रा. पूर्णिमा म. दवे	रामानुजीय एवं स्वामिनारायणीय भक्ति–प्रपत्ति विचारधारा	1980	1–2	123
693.	डॉ. रामजी सिंह	अहिंसा का भावात्मक स्वरूप	1980	1–2	129
694.	डॉ. देवराज	सम्पादक की बात	1980	3–4	1
695.	डॉ. हर्ष नारायण	भारतीय दर्शन के 25 वर्ष– कुछ प्रतिक्रियाएं	1980	3–4	3
696.	डॉ. के.एल. शर्मा	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की दार्शनिक चिन्तन प्रणाली	1980	3–4	10
697.	डॉ. सुश्री अनिल तनेजा	न्याय–मीमांसा निर्णय प्रणाली	1980	3–4	19

698.	डॉ. धमेन्द्र गोयल	मूल्य और प्रतिबद्धता	1980	3–4	23
699.	डॉ. रामजी सिंह	राजनैतिक प्रतिबद्धता	1980	3–4	28
700.	यशदेव शल्य	मनुष्य और जगत्	1980	3–4	32
701.	प्रो. रमाशंकर श्रीवास्तव	विलियम जेम्स के धार्मिक विचारों का मूल्यांकन	1980	3–4	41
702.	डॉ. मधुसूदन प्रसाद	हाइडेगर और धर्म दर्शन	1980	3–4	45
703.	प्रमोद कुमार कोयल	विजयकृष्ण गोस्वामी के अनुसार मानवीय कर्म और भगवत्कृपा	1980	3–4	47
704.	श्री रामप्रीति मिश्र	स्थितप्रज्ञता : एक विवेचन	1980	3–4	50

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

स्थापित
१९५४

• अध्यात्म विद्या विद्यानाम् •